'परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ'

श्रेय

चैत्र २०२६ विक्रमी



सम्पादक

डा० रामदत्त भारद्वाज-मोहनलाल श्रीवास्तव

सौन्दर्य साहितीनां जगति भरतभूनिर्मितानां नितांतं ।
भूयात् सञ्चारयन्ती प्रयतमतिरियं पत्रिका विश्ववन्द्या ।।
पन्थानं दर्शयन्ती स्वरसमधुरिमापूरितं श्रेयसः स्वं ।
श्रेयोनाम्ना प्रसिद्धा गमयतु सुयशःसाहितीकारसंघम् ।।

आचार्य अमृतवाग्भव

  

अंक १ चैत्र २०२९ वि० - मूल्य २.५० प्रति—१०.०० वार्षिक

सदस्यों को निःशुल्क

  

कार्यालय—५१/१ न्यू मार्केट, करोलबाग, नई दिल्ली-५ ।

दूरभाष : ५६५७०७

सम्पादकीय



डा० बुद्धप्रकाश अध्यक्ष इतिहास तथा प्राचीन इतिहास, संस्कृति और पुरातत्त्व विभाग, निदेशक भारतीय विद्या संस्थान, डीन भारतीय विद्या-संकाय तथा सामाजिक विज्ञान-संकाय कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, इस संसार से विदा हो चुके हैं। वे भारतीय साहित्यकार संघ के मेरठ अधिवेशन सन् १९६४ में संघ के सदस्य बने और तभी से संघ के इतिहास परिषद् के अध्यक्ष भी रहे। नई दिल्ली में २६ से २८ नवम्बर सन् १९६६ में अखिल भारतीय इतिहास-परिषद का संघ ने जो आयोजन किया था, उसकी अध्यक्षता उन्होंने की और अपने अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने जो उद्घोषणा की वह आज भी इतिहास के शोधकों और राष्ट्रिय नेताओं के लिए सर्वथा ग्रहणीय है। उन्होंने कहा :

"एक सुदृढ़, संगठित, अनुशासित, प्रगतिशील और उत्साह पूर्ण भारत न केवल हम सब के दिए वरदान सिद्ध होगा वरन् समस्त विश्व की अमूल्य निधि बनेगा। हमें इस लक्ष्य के लिए चेष्टा करनी है और अपने इतिहास के अध्ययन को इसके लिए प्रयुक्त करना है। हमारे इतिहास का अध्ययन हमारे व्यक्तित्व को समझने-समझाने का माध्यम होना चाहिए और इसे हमारे गुणों और दोषों दोनों को स्पष्ट करना चाहिए। इससे हम अपने लक्ष्य और गन्तव्य के प्रति सजग हों, अपने दृष्टिकोण और विचार पंथों को समझें और अपनी दिशाओं और गतियों का ज्ञान प्राप्त करें। इस दृष्टि से हम इसका प्रसार-विस्तार करें।"

ये शब्द उस इतिहास विद् के आज भी मूल्यवान् हैं, और रहेंगे। जिन परिस्थितियों में उनका अकस्मात् निधन हुआ, निधन से पूर्व महाभारत सम्बन्धी उनके विचारों को लेकर जो कुछ उधेड़-बुन समाचार पत्रों में हुई, वह सर्वथा विश्लेषणीय है क्योंकि ऐसी अन्तर्राष्ट्रिय प्रतिभा का सहसा और समय से पूर्व लुप्त हो जाना अशुभ है। भारतीय साहित्यकार संघ उनके प्रति सर्वदा कृतज्ञ रहेगा। उन्होंने थोड़े से समय में इसकी जो सेवा की वह श्लाघनीय है। हमें दुःख है कि उनके निधन से जो स्थान इतिहास के क्षेत्र में रिक्त हुआ है, वह शीघ्र पूर्ण होने की आशा नहीं है।

भारतीय साहित्य का उपनाम कोश :
(Dictionary of Pseudonyms in Indian Literature)

यह अत्यन्त हर्ष का विषय है कि भारत में सम्भवत: प्रथम बार भारतीय-साहित्य के उपनाम कोश की पाण्डुलिपि तैय्यार की गई है। अध्ययनशील युवक श्री वीरेन्द्र कुमार ने अनेक वर्षों के श्रम से इस कार्य को सम्पन्न करके भारतीय-साहित्य के एक ऐसे अभाव की पूर्ति की है जिसकी ओर, सन् १६३४ ई० में पुस्तकालय विज्ञान-विशेषज्ञ पद्मश्री डा० एस० आर० रंगनाथन ने "classified catalogue code" में उपनाम विषय पर विचार व्यक्त करते हुए, संकेत किया है। डा० महोदय ने उक्तकोश की पाण्डुलिपि की प्रशस्ति में जो शब्द लिखे हैं उनसे यह स्पष्ट है कि ऐसे ग्रन्थ का शीघ्र मुद्रण-सरकार और साहित्यकार दोनों के लिए विशेष उपयोगी होगा। यदि भारत का कोई जागरूक प्रकाशक अथवा शिक्षामंत्रालय इसके मुद्रण का भार स्वीकार करले तो आने वाली ज्ञान-पिपासु संतति अवश्य आभार मानेगी। यह कोश भाषानुसार, लेखकानुसार तथा उपनाम सूची नामक ३ भागों में विभक्त है। इससे सम्बन्धित कुछ सामग्री दिल्ली लाइब्रेरी एसोसिएशन के "लाइब्रेरी हेराल्ड" में प्रकाशित हो चुकी है। यद्यपि इस प्रथम प्रयास में कुछ अपूर्णता स्वाभाविक है तथापि प्रयास नितान्त उत्साह जनक और उपयोगी है।

श्रेय :—पत्रिका अपने जीवन के तृतीय वर्ष में हैं। इसके सम्बन्ध में पाठकों तथा शुभचिन्तकों के पत्रों का समय समय पर प्रकाशन पत्रिका की दिशा और उसके व्यक्तित्त्व का संक्षिप्त परिचय है। ऐसी पत्रिका के लिए देश के बुद्धि जीवियों, जागरूक संस्थाओं और सरकार से सहायता की अपेक्षा करना स्वाभाविक है। इसके प्रकाशन और प्रसारण में जो आर्थिक कठिनाई आती है उसका वर्णन करना और भी कष्टदायी है। स्वतंत्रता की रजत जयन्ती के अवसर पर देश के जागरूक नागरिकों और प्रबुद्ध पाठकों को बधाई भेजते हुए यह आशा करना हमारा साहित्यिक धर्म है कि वे इसके लिए कुछ सोचें। समाजवाद से आर्थिक विषमता को दूर करने का प्रयास अपने में श्लाघ्य हो सकता है परन्तु यदि देश की मनीषा और उदात्त चिन्तन के उन्मेष का मार्ग धीरे-धीरे अवरुद्ध होता रहा तो मानसिक विपन्नता की महामारी सम्पूर्ण चिन्तन की गंगा को अवश्य दूषित कर देगी।

तुलसीदास :—राष्ट्र के ही नहीं विश्व के अमूल्य कवि हैं। उनकी चेतना साहित्य गंगा से एक रस होकर जिस कल्याण मार्ग को प्रशस्त कर गई उसका प्रति रूप असम्भव है। ऐसे ज्ञानमय कवि और कल्याणकारी भक्त की जन्म-भूमि निश्चय ही हमारा पावन तीर्थ है। मानस-चतुश्शती के आयोजन में उनके जन्म और जन्म-भूमि सम्बन्धी सत्यान्वेषण की उपेक्षा न हो, हमारी आयोजकों से ऐसी प्रार्थना है।

अन्तर्वस्तु

दिल्ली प्रशासन और भारतीय साहित्यकार संघ

दिल्ली प्रशासन के शिक्षा-विभाग ने भारतीय साहित्यकार संघ के कार्य और उद्देश्य के सम्बन्ध में छान-बीन करने के पश्चात् इसके लिए १०००/- रु० वार्षिक अनुदान स्वीकार किया परन्तु यह दुर्भाग्य पूर्ण है कि शिक्षा विभाग के लेखा-जोखा अधिकारी ने अपने पत्र संख्या ५०२३ दिनांक २२-७-७२ में लिखा है कि भारतीय साहित्यकार संघ को ७१-७२ का अनुदान नहीं मिलेगा । यदि साहित्यकार संघ ७२-७३ का अनुदान प्राप्त करना चाहता है तो आवश्यक कागजात शीघ्र भेज दिए जाएं, हालांकि इनके प्रस्तुत करने की अवधि पहले ही समाप्त हो चुकी है ।

भारतीय साहित्यकार संघ की ओर से शिक्षा विभाग द्वारा मांगे गए समस्त आवश्यक कागजात शिक्षा विभाग के सम्बन्धित कर्मचारी को ९ जून सन् १९७१ को ही दे दिए गए थे । शिक्षा विभाग के एक कर्मचारी द्वारा संघ के कार्यालय का निरीक्षण भी कर लिया गया था । परन्तु इतने विलम्ब से ऐसा उत्तर प्राप्त होने का अर्थ है कि **दिल्ली प्रशासन का शिक्षा विभाग साहित्यकारों और साहित्यिक संस्थाओं के प्रति अत्यन्त उदासीन है** । उसके लिए भारतीय साहित्यकार संघ के कार्य का कोई महत्त्व नहीं । यह भी उल्लेखनीय है कि दिनांक २५-४-७२ को दिल्ली के उपराज्यपाल से संघ का एक शिष्ट मंडल डा० रामदत्त भारद्वाज के नेतृत्व में मिला था जिसने उन्हें संस्था के कार्य और 'श्रेय' त्रैमासिक की योजना से परिचित कराया । दिनांक १९-४-७२ को श्री राधारमण मु० का० पा० दिल्ली को दैनिक नवभारत टाइम्स, वीर अर्जुन, हिन्दुस्तानसाप्ताहिक, ताण्डव, मिलिन्द के अनेक पत्रकारों, कई स्थानीय प्रकाशनों तथा दिल्ली विश्व विद्यालय के प्राध्यापकों और प्रतिष्ठित नागरिकों की ओर से एक ज्ञापन भेजा गया था कि भारतीय साहित्यकार संघ का अनुदान (७१-७२) भेज दिया जाए । परन्तु उसका परिणाम है उक्त पत्र ।

जब समय पर भेजे गए समुचित कागजातों की उपेक्षा की जा सकती है और दिल्ली के प्रबुद्ध नागरिकों और बुद्धि जीवियों के ज्ञापन को रद्दी की टोकरी में फेंका जा सकता है तब हम आसानी से समझ सकते हैं कि अनुदान प्राप्त करने के लिए हमें क्या बनना पड़ेगा । अत: अब हमें सोचना है कि हम दिल्ली प्रशासन से अनुदान लें या नहीं ।

मोहनलाल श्रीवास्तव,
मुख्य संयोजक ।

सङ्क्रान्ति - विचार

—आचार्य अमृतवाग्भव *

भिन्नभिन्नभोगाऽऽभोगभासुरे भवेऽस्मिंस्तत्रभवतो भवतो भगवतः स्वयम्भुवो विश्वम्भरस्य भर्गस्य भाग्यभूम्युपारूढस्य भैरवीभैरवाऽभिन्नस्य भावाऽभावनाऽभिरूपतमस्याऽहम्महोरूपिणो भर्गस एव भवति समग्रोऽपि भेदाऽभेदकल्पनासंरम्भ इति सर्वोऽप्यार्याऽनार्यवर्णिकापरिग्रह इति चेति सर्वतोभावेन भारतभुवमेव स्वराष्ट्रमित्याभिजन्येन संभावयन्तो धन्यधीधनसमृद्धा भारता भारतीया आर्या एव प्रभवन्ति परिज्ञातुम् ।

अत एव शान्तिस्थापनां समुद्दिश्यैवान्तःकरणबहिःकरणव्यापारपरायणत्व निर्भ्रान्तं दरीदृश्यते तेषामार्याणाम् । अनार्याणां च सर्वोऽप्यन्तःकरणबहिःकरणव्यापारो हिताऽहितज्ञानविवेकविधुरतया रुचिमात्राऽभिनिविष्टतया च सर्वथा कलहायैव कल्पते । हितप्रधाना दैवीं सम्पदमभिजाता विवेकिन आर्याः, रुचिप्रधाना आसुरीं सम्पदभिजाताः संकरिणोऽनार्याः । महामहेश्वरः परशिव एव स्वविलासायैव खलु भर्गोरूपया निजाऽभिन्नकलया निग्रहाऽनुग्रहतारतम्यं संकल्प्य स्वात्मरङ्गभूमावार्याऽनार्यवर्णिकां परिगृह्य नाटयति जगन्नाटकमिति हि तथ्यतरम् । इयं भर्गोरूपा परशिवाऽभिन्ना निग्रहाऽनुग्रहमूलभूता कलैवाऽभिनवरमणीयतया कामकलेति महाकामेश्वरीति महात्रिपुरसुन्दरीति च साक्षात्कृतस्वरूपैः साम्प्रदायिकैराचार्यैरनुभूतस्व-

---

* दार्शनिक एवं प्राच्यविद्याविद्

रूपैर्महर्षिभिः स्वरूपप्रतिष्ठितैः सनातनैः परमर्षिभिश्च ज्ञायते दृश्यतेऽनुभूयते प्रविश्यते च। निखिलमपि विश्वं निजपदेनाऽऽक्रम्य स्ववशे प्रतिष्ठापयन्तीं कामकलामेव क्रान्तिरित्यस्य नामधेयस्याऽऽन्वर्थक्यं विभावयन्तः केचिद्रहस्यविद आचार्याः क्रान्तिरित्येवं सम्भावयन्ते भवानीमिमाम्।

तदेतद्रहस्यं संक्षेपतोऽस्माभिः "श्रीक्रान्तिकौमुदी" प्रारम्भे मंगलपद्ये समुपश्लोकितम्। तथाहि तत्र—

शिष्टाऽनुग्रहदुष्टनिग्रहमिषात्कल्याणमातन्वती
विश्वस्य क्रमविक्रमाऽक्रममयी धर्मस्वरूपा शिवा॥
आनन्दाऽमृतवर्षिणी शिवमहासत्ता चिदम्भोनिधि-
र्देवी क्रान्तिरुदारधीर्विजयतामार्या परा भैरवी॥ इति॥

विस्तरशश्च क्रान्तिविषये "श्रीक्रान्तिकौमुद्याम्" "श्रीराष्ट्रसञ्जीवने" श्रीराष्ट्रालोकभाष्ये च सुनिरूपितं तत्तत्रैव समवलोकनीयम्। भवतु।

"कारणगुणाः कार्यगुणानारभन्ते" इतिस्थित्या क्रान्तिमूलं सर्वमपि क्रान्तिप्रियमित्या च परमाणोरा च परमहतः सर्वत्र क्रान्तिर्विजृम्भते। तत्र स्वातन्त्र्यविकासतारतम्यमवलम्ब्य कल्पितजडाजडविभागविभाजिते पदार्थसार्थमात्रे क्रान्तिकर्तृत्वं, क्रान्तिकरणत्वं, क्रान्तिकार्यत्वं च व्यवस्थाविषयमवगाहते। करणपदे कार्यपदे चाऽवरूढं वस्तु परतन्त्रमिति क्रान्तिकर्तृपदेशाऽनर्हमेव। स्वतन्त्रस्यैव कर्तृपदलाभसंभवात्। स्वतन्त्रा एव चाऽत्र क्रान्तिकर्तृपदेशविषये विनयग्राहिणः।

आर्याऽनुग्रहणाऽनार्यनिग्रहणेन विश्वस्मिन्नपि विश्वमण्डलेऽमंगलनिवृत्तिपूर्वकं मंगलस्थापनायै समुपास्यतया यां क्रान्तिं समुपदिशन्ति तामेव संक्रान्तिरिति राष्ट्रवादिनो विनयाचार्यवर्य्याः संस्तुवन्ति। संस्तव एव चाऽयं तस्य तस्य सर्वस्याऽपि विधिकोटिप्रवेशपदं लम्भयते संस्तुतं तं तमर्थम्। "यः स्तूयते स विधीयते" इति हि कर्ममीमांसाकुशलानां पण्डितानां राद्धान्तः। ततश्च संक्रान्तिसमुपासना हि नाम प्रशस्ततमं कर्मेति प्रियस्वातन्त्र्याणामार्याणां स्वभावसहजं कर्मेति निष्पद्यते।

सारांश

भारतभूमिको पूर्णतया अपना राष्ट्र समझने वाले जानतेहैं कि सम्पूर्णसृष्टि भगवान शिव के सर्वोच्च सौभाग्यभूत अहम्महोरूपी आत्मतेज से उत्पन्न है। इसमें आर्य अपने हित और शुभ के लिए शांतिस्थापना तथा अनार्य अज्ञानवश कलह में दत्तचित्त हैं। इसका एक और भी कारण है कि आर्य दैवी सम्पत्ति और अनार्य आसुरी सम्पत्ति को महत्त्व देते हैं। कारण के गुणों से कार्य के गुणों का सम्बन्ध है। सम्पूर्ण विश्व का मूल क्रान्ति है और यह इसीलिए क्रान्तिप्रिय है। क्रान्तिविषयक नीति को ग्रहण करने की क्षमता स्वतंत्र पुरुष में है। क्रान्ति मगल-मूला है। अतः सम्पूर्ण संसार में मंगल की स्थापना और अमंगल की निवृत्ति के लिए जिस क्रान्ति की उपासना होती है, वही संक्रान्ति है।

भारत सदैव से संक्रान्ति का उपासक रहा है।



विकार हेतौ सति विक्रियन्ते येषां न
चेतांसि त एव धीराः।

धर्म रहस्य

डॉ० रामदत्त भारद्वाज*

कतिपय विज्ञान-वेत्ताओं ने अपने विज्ञान के बल पर ईश्वर में अविश्वास किया है और धर्म को जीवन में एक निरर्थक पचड़ा समझा है, यद्यपि कुछ वैज्ञानिक लोग पक्के धार्मिक और ईश्वर-भक्त हैं। जो साधारणजन अपने को कट्टर धार्मिक बताने का साहस करते हैं, वे वास्तव में धर्म का तत्व नहीं समझते। हिन्दू-मुस्लिम के परस्पर मनोमालिन्य का आदि स्रोत धर्मानभिज्ञता ही है। अमुक व्यक्ति को मुसलमानों ने मुसलमान बना लिया, अथवा आर्यसमाजियों ने अमुक मुसलमान को शुद्ध कर लिया, अथवा ईसाइयों ने अमुक जयकृष्ण (जैकिशन) को जैकशन (jackson) कर लिया...आदि बातों को सुन कर हँसी आती है। राजनीति के नाते से, रोटी-कपड़े के नाते से ये बातें भले ही ठीक हों, किन्तु धर्म के नाते से ये बातें बिलकुल बेहूदा प्रतीत होती हैं। क्या कोई किसी का धर्म बलपूर्वक बदल सकता है? क्या धर्म कोई कपड़ा है, जो बलपूर्वक उतारा और पहना जा सकता है। धर्म का सम्बन्ध मन से है, और मन बलपूर्वक छीना नहीं जा सकता। मुसलमान-समाज में रहता हुआ व्यक्ति, यदि प्रबल इच्छा करे, तो किसी अंश तक हिन्दू-धर्म को पालन कर सकता है और मुसलमान भी हिन्दू-समाज में मुसलमान-धर्म का पालन किसी अंश तक कर सकता है। धर्म की ओट में जो कुछ अत्याचार होता है अथवा उसके नाम पर जो कुछ झगड़ा होता है उस सब का कारण यही है कि झगड़ालू धर्मप्रचारक वास्तव में धर्म का अर्थ ही नहीं समझते।

---

* साहित्य, दर्शन एवं भाषा के अध्येता

आजकल धर्म कोई गम्भीर वस्तु नहीं समझा जाता। वह तो एक मनोविनोद की वस्तु-मात्र हो गया है। महाकवि अकबर ने इसी बात का संक्षेप से अपने शब्दों में इस प्रकार कहा है—

फरमा गए हैं ये खूब भाई घूरन,
दुनियां रोटी है और मजहब चूरन।

वास्तव में आजकल साधारण जनता मजहब को 'चूरन' के बराबर ही समझती है। जैसे चूरन को अजीर्ण के समय अथवा स्वाद के लिए जब भी चाहे तब लोग खाते हैं, उसी प्रकार वे जन्म, मरण, विवाह आदि के अवसरों पर आवश्यकता पड़ने पर अथवा ठाली बैठे मनोविनोद के लिए, अथवा जब हाथ खुजाते हों, तब धर्म के भक्त बन जाते हैं। गूढ दृष्टि से देखा जाय, तो प्रतीत होता है कि धर्म का और जीवन का गहन सम्बन्ध है। धर्म जीवन की किसी विशेष अवस्था का नाम नहीं है। जीवन का कोई क्षण ऐसा नहीं होता है, जो धर्मविहीन हो। धर्म मन का गुण है, अतएव शारीरिक बल का प्रभाव धर्म को बदल नहीं सकता। अतएव धर्म-प्रचार में नम्रता, सरलता, सज्जनता, विद्वत्ता की आवश्यकता है। महामना सम्राट अशोक ने संसार-भर में बौद्ध-धर्म का प्रचार केवल 'प्रेम' के बल पर किया, तलवार के बल पर नहीं। ईसाई लोग भी इस अहिंसात्मक धर्म-प्रचारक-सिद्धान्त का अनुसरण करते हैं।

किन्तु क्या वास्तव में धर्म के नामपर किए गए अत्याचारों के लिए साधारण जनता ही दोषी है? क्या पढ़े-लिखे लोग, जो अपने को विद्वान् और सुधारक समझते हैं, दोषी नहीं हैं? सच बात यह है कि बहुत से अहमन्य सुधारक लोग ही सुधार करना नहीं जानते, क्योंकि वे स्वयं धर्म का मर्म नहीं समझते। उनका सब धार्मिक प्रयास धर्म के लिए नहीं होता, किन्तु स्वार्थ के लिये— कीर्ति के लिये, दुकान चलाने के लिये वकालत चलाने के लिये। अस्तु।

इन झूठे धर्म-सुधारकों का भी क्या दोष है, जबकि स्वयं महर्षियों ने भी धर्म के मर्म को अति गूढ़ बताया है। लिखा है—

"तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना, नैको मुनिर्यस्य वचः प्रमाणम्। धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम्।"

तर्क द्वारा धर्म का अंतिम निरूपण नहीं हो सकता। श्रुतियों के वचन भी भिन्न-भिन्न हैं। अनेक मुनियों के अनेक वचन हैं। अतएव धर्म का रहस्य बताना अत्यन्त कठिन कार्य है।

किन्तु ऋषि लोग आलसी नहीं थे। उन्होंने बड़े परिश्रम से धर्म का विवेचन किया है। भगवान् वेदव्यास जी धर्म की व्याख्या इस प्रकार करते हैं—

धारणाद्धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयते प्रजा:
यत्स्याद्धारणसंयुक्तं स धर्म इति निश्चय.।।

धर्म शब्द 'धृ' धातु से बना है। वह शक्ति व गुण जो इस संसार को धारण किए हुए है, जो प्रजा को धारण करती है, जिसके कारण पृथिवी, चंद्र, सूर्यादिक अपना-अपना कार्य करते हैं—वही निश्चय रूप से धर्म है। महर्षि पतंजलि इसी बात को अपने शब्दों में इस प्रकार कहते हैं—

योग्यतावच्छिन्ना धर्मिण: शक्तिरव धर्म:।

धर्मी की योग्यतायुक्त शक्ति ही धर्म है। जड़ अथवा चेतन मेंधर्म जिस गुण व शक्ति के नष्ट होने से उस वस्तु की सत्ता ही नष्ट हो जाय, वही धर्म है। जल का धर्म शीतस्पर्शत्व, पृथिवी का गंधवतीत्व, इत्यादि शास्त्रकारों ने उपरिलिखित भाव को और भी अधिक स्पष्ट किया है—

या बिभर्ति जगत्सर्वं ईश्वरेच्छा ह्यलौकिकी।
सैव धर्मो हि सुभगे नेह कश्चन संशय:।।

अर्थात्, ईश्वर की अलौकिकी इच्छा, जो इस सारे संसार को धारण किए हुए है, जो इसका पालन-पोषण कर रही है, वही निश्चयरूप से धर्म है। सृष्टि के पूर्व निराकार निर्गुण ब्रह्म अकेला ही था, उसने एक से अनेक होने की 'एकोऽहम् बहुस्याम्' इच्छा की। इच्छामात्र से वह निर्गुण से सगुण, ब्रह्म से ईश्वर हो गया। तथा उसने मकड़ी के जाले की तरह अपने में से ही जीव और प्रकृति रच दिए। गुणसाम्यावस्था वाली प्रकृति सत्, रज, तम, आदि के तारतम्य से अव्यक्त से होती गई और उसी में अहंकार, मन, बुद्धि, इंद्रिय आदि चौबीस तत्वों का प्रादुर्भाव

र्भाव हुआ। जीव और प्रकृति का प्रादुर्भाव सब ब्रह्मेच्छा के कारण हुआ है। और उसी इच्छा के कारण प्रलय होता है। प्रकृतिव्यक्त से अव्यक्त अवस्था को प्राप्त होती हुई जीव के साथ ब्रह्म में लीन हो जाती है। यही ब्रह्मेच्छा धर्म है।

इसी बात को सरल करके श्री पूज्यपाद महर्षि कणाद कहते हैं—

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।

जिसके द्वारा अनंत उन्नति हो और अन्त में मोक्ष प्राप्त हो, वही धर्म है। हिन्दू-दर्शनों में प्रकृति की व्यक्तावस्था से अव्यक्तावस्था को प्राप्त होना ही उन्नति[1] है और प्रकृति से छूटकर ब्रह्म में लीन हो जाना मोक्ष है।

ये विचार दार्शनिक हैं, अतएव साधारणजन इनको सरलतया नहीं समझ सकते। इसी कारण से शास्त्रकारों ने साधारण जनता के हेतु धर्म का चोदना लक्षण इस प्रकार बताया है—

वेदप्रतिष्ठितं कर्म धर्मस्तन्मंगलं परम्।
प्रतिषिद्धक्रियासाध्यः स गुणो धर्म उच्यते॥

अर्थात् वेदविहित कर्म धर्म है और वेद-निषिद्ध कर्म अधर्म है। मुसलमान लोग और ईसाई लोग भी अपनी-अपनी धार्मिक पुस्तकों के वचनों से बद्ध हैं। जो बाइबिल में विहित है, वही ईसाइयों के लिए धर्म और जो अविहित है वही अधर्म है। जिसका कुरानशरीफ में विधान है, वही मुसलमानों के लिये धर्म है और जिसका निषेध है, वही अधर्म है।

किन्तु ऋषि लोग जानते थे कि बेपढ़े-लिखे मनुष्य वेदादि के विधि-निषेध को किस प्रकार जान सकते हैं, विशेषता वे लोग जिनका वेदाध्ययन निषिद्ध है। अतः उन्होंने ऐसे लोगों के हेतु लिखा है—

१—पश्चिमी पंडित प्रकृति के अव्यक्त होने को मानते है।

महाजनो येन गतः स पंथाः ।

अर्थात्, महापुरुष जो कार्य करते आए हैं, वही कार्य छोटों को भी करना चाहिए । बड़े लोगों के जीवन-चरित्र तथा उपदेश जो धर्म बताते हैं, वही निम्न-श्रेणी के मनुष्यों के लिये पर्याप्त है ।

महर्षि लोग इस प्रकार सूक्ष्म-से-सूक्ष्म और स्थूल-से-स्थूल धर्म के लक्षण बताकर धर्म के दो प्रधान प्रकार बताते हैं—साधारण और विशेष ।

साधारण धर्म वह है, जो मनुष्यमात्र के लिए आवश्यक है । क्या हिन्दू, क्या मुसलमान, क्या ईसाई, सभी साधारण धर्म के लक्षण हर एकमत हैं । कोई भी झूठ बोलने को अच्छा नहीं बताता । सभी अस्तेय की प्रशंसा करते हैं । अतएव स्मृतिकारों ने मुक्त कंठ से कह दिया है—आचारः परमो धर्मः । (आसमन्तात् चरतीति आचारः) आचार से मनुष्यों के परस्पर व्यवहार का ज्ञान होता है। इसको आंग्ल-भाषा में 'मोरेलिटी' कहते हैं और पाश्चात्य दर्शन में यह 'ऐथिक्स' का विषय है ।

मनुजी ने इस साधारण धर्म के दश लक्षण बताये है—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयंऽशौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥

जैन और बौद्धों ने अहिंसा के अन्तर्गत ही सब धर्म बताये हैं—अहिंसा परमो धर्मः । साधारण धर्म का विषय सरल है, किन्तु इतना सरल नहीं है, जितना वह प्रतीत होता है । श्री लोकमान्य तिलक ने अपने गीता-रहस्य में बताया है कि कर्त्तव्याकर्तव्य का ज्ञान सरल नहीं है, किन्तु अधिक बुद्धि व अध्ययन की आवश्यकता है,यथा– कब सच बोलना युक्त है, कब अयुक्त, क्षमा और दब्बूपन में क्या अन्तर है अहिंसा का वास्तविक स्वरूप क्या है, क्या आक्रमण करते हुए हिंस्र पशु को मार डालना हिंसा है इत्यादि प्रश्नों का उत्तर अति सरल नहीं है ।

कर्तव्याकर्तव्य का विवेचन किस प्रकार हो, इस प्रश्न का उत्तर निम्न प्रकार से भिन्न लोगों ने दिया है । यथा—वही कार्य करना चाहिए, जिसके करने से सुख

हो, अथवा अन्त में सुख निकले, अथवा जो अन्तरात्मा के अनुकूल हो, अथवा जो उपयोगी हो इत्यादि। श्रीकृष्ण जी गीता में लिखते है—कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।' अर्थात् कार्य को फल की बिना इच्छा किए हुए ही करना चाहिए अथवा कर्त्तव्य को कर्त्तव्य की दृष्टि से ही करना चाहिए और उसके फल को ईश्वराधीन करना चाहिए।

साधारण धर्म के अतिरिक्त विशेष धर्म भी विहित है। मन, अवस्था, काल दिक् आदि भेदों के कारण निरा साधारण धर्म अपर्याप्त है। अतएव विशेष धर्म की अत्यन्त आवश्यकता है। यह धर्म दो प्रकार का होता है नैमित्तिक और नित्य। नैमित्तिक धर्म के अन्तर्गत वे कार्य हैं, जो नित्यप्राय करने के योग्य नहीं हैं, किन्तु कभी-कभी करने चाहिए, यथा पाप का प्रायश्चित, आपद्धम अश्वमेधादि यज्ञ नैमित्तिक कार्य हैं। नित्य कार्य वे हैं, जो नित्य करने चाहिए यथा सन्ध्यावंदन, भोजन आदि। नित्य धर्म भी चार प्रकार का है वर्ण-धर्म, आश्रम-धर्म, वर्णाश्रम-धर्म और गुण-धर्म। यथा (ब्राह्मण अध्यापन कार्य करे) के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र आदि के कार्य भिन्न-भिन्न हैं। आश्रमधर्म (यथा ब्राह्मण ब्रह्मचारी वीर्य रक्षा करे) के अनुसार ब्रह्मचारी गृहस्थी, वानप्रस्थी और संन्यासी के कार्य भिन्न हैं, और वर्णाश्रम-धर्म (यथा ब्राह्मण ब्रह्मचारी ढाक का दंड) के अनुसार ग्रहण करे। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य ब्रह्मचारियों, गृहस्थियों, वान-प्रस्थी और संन्यासियों के भिन्न-भिन्न धर्म होते हैं। गुण-धर्म (यथा राजा प्रजा का पालन करे) के अनुसार राजधर्म, प्रजाधर्म, नारी धर्म आदि अनेक प्रकार हो जाते हैं। इन सब धर्मों का सविस्तार वर्णन स्मृतियों में मिलता है।

धर्म का मार्ग त्रिविध है ज्ञान-मार्ग, भक्ति-मार्ग और कर्म-मार्ग।

मीमांसा-शास्त्र के आचार्य श्रीमहर्षि जैमिनि और भारद्वाज कर्म-मार्ग के पोषक हैं। कर्ममार्गी कहते हैं, 'स्वर्गकामो यजेत' और भी

प्राप्नुवन्ति यत: स्वर्गमोक्षौ धर्मपरायणा:,
मानवा मुनिभिर्नूनं स धर्म इति कथ्यते।
सत्वबुद्धिकरो योऽत्र पुरुषार्थोऽस्तिकेवलम्,
धर्मशीले तमेवाहुर्धर्मं केचिन्महर्षय:।

महर्षि शांडिल्य, मुनि नारद आदि भक्ति-मार्ग के भक्त हैं। वे गायन, कीर्तन रूप में पराअपरा नवधाभक्ति द्वारा भगवद्दर्शन व सालोक्य मुक्ति की प्रशंसा करते हैं।

याज्ञवल्क्यादि ज्ञानमार्गियों का कथन है 'अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्म-दर्शनम्।' ये लोग ब्रह्मचिंतन को ही ध्येय समझते हैं।

बहुधा लोग समझते हैं कि उपर्युक्त तीनों मार्ग अलग-अलग तथा प्रतिकूल अथवा एक दूसरे के अनाश्रित हैं। वास्तव में तीनों ही मार्ग का अवलंबन करना चाहिए। हाँ किसी एक को प्रधान मानकर केवल एक मार्ग पर्याप्त नही। यही बात शांडिल्य ऋषि ने अपने भक्ति-सूत्रों में बड़ी योग्यतापूर्वक स्पष्ट की है

क्या धर्म और मोक्ष एक ही वस्तु है ? नहीं। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष ये चार पदार्थ हैं, जिनके लिये मनुष्य को अपने जीवन में उद्योग करना चाहिए। प्रथमतः उसको धर्म का रहस्य समझना चाहिए, तदनंतर धन-प्राप्ति के लिए अर्थशास्त्र का अध्ययन और उसकी प्राप्ति के उपाय करने चाहिए, क्योंकि अधर्म द्वारा प्राप्त किया हुआ धन चिरस्थायी अथवा शुभ-फल देने वाला नहीं होता। अर्थप्राप्ति के अनंतर ही कामशास्त्र का अध्ययन और विवाह आदि द्वारा काम प्राप्ति होनी चाहिए। तदनंतर उसकी निवृत्ति के पश्चात् ब्रह्मज्ञान और मोक्ष के लिये प्रयत्न करना चाहिए। अतएव प्रतीत होता है कि धर्म मोक्ष का साधन व उपाय-मात्र है।

धर्म व्यक्तिगत है अथवा जातिगत ? धर्म दोनों प्रकार का है। योगसाधन व्यक्तिगत है। यज्ञ करना, मसजिद में बैठकर नमाज पढ़ना, गिरजाघर में ईश-प्रार्थना आदि जातिगत बातें हैं, किन्तु बात यह है कि भारत-वासियों ने अधिकतर व्यक्तिगत धर्म को ही अपनाया है। मुसलमान और ईसाई जातिगत की ओर विशेषतः झुके हैं। सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय, तो व्यक्तिगत भाव ही मुख्य है। ईश्वर के बारे में कुछ जान लेना प्रत्येक व्यक्ति का काम नहीं। सब नमाजी एक से धार्मिक नहीं होते। ज्योतिष, गणित के सभी लोग अधिकारी नहीं होते। इसी प्रकार ईश्वर-ज्ञान के भी वास्तविक अधिकारी कोई-कोई ही होते हैं। कह देना और अनुकरण करना एक बात है और उसी का अनुभव करना दूसरी बात है।

हाँ, साधारण दृष्टि से विचार किया जाय तो संसार-यात्रा के हेतु जाति-गत धर्म अथवा सांप्रदायिक धर्म ही बहुत कुछ है, क्योंकि देखादेखी धर्म की ओर रुचि और प्रवृत्ति होती है। मंदिर में मूर्तिदर्शन करने जाना, गंगास्नान आदि की उपादेयता सिद्ध ही है।

प्रथा और रीतियों का धर्म पर बहुत प्रभाव पड़ता है। हम आस्तिक हैं और मुसलमान भी आस्तिक हैं, किन्तु जैन और बौद्ध-धर्म के नाते हमसे दूर है, तो भी हम मुसलमानों को यवन कहकर उनको नीचातिनीच (न नीचो यवनात्परः) मानते हैं और वे भी हमको काफिर समझते हैं। इसका कारण क्या है? केवल यही कारण है कि जैनों और बौद्धों का रहन-सहन हमारे समान ही है, मुसलमानों के समान नहीं। यदि भाषा, कपड़े और रीति प्रथाओं का विचार न होता, तो यवन कभी के हिन्दू हो गए होते अथवा अपने को मुसलमान न बतलाकर मुहम्मद-पंथी बतलाया करते, जैसा कि बहुत-से अपने को कबीरपंथी, दादूपंथी बतलाते हैं। मुसलमानों का-सा आचार करने वाले सैकड़ों हिन्दू विद्यमान हैं, किन्तु एक भाषा-भाषी और एक से रहन-सहन के कारण हम उनको कट्टर हिन्दू ही समझते हैं। मेरे एक ईसाई मित्र कहते थे कि भारतीयों को योरप-प्रदर्शित ख्रीष्टमत इतना उपयुक्त नहीं जितना कि ईसा-पंथ (भारतीयों के अनुकूल ख्रीष्टमत)।

पश्चिमी पंडितों ने धर्म का स्रोत व प्रारंभ बताने का प्रयत्न किया है। वे कहते हैं—धर्म का प्रारंभ तब से होता है, जब हम अपने को अपूर्ण समझने लगते हैं, जबसे किसी विलक्षण कर्मी का अनुभव करने लगते हैं, जब से अपने को किसी का कृपापात्र व आश्रित समझने लगते हैं। आश्रित व कृपापात्र किसी मनुष्य का ही नहीं, किन्तु उससे भी परे किसी अन्य का। असभ्य जाति का भी धर्म होता है। आस्तिकता के भेद से उसमें और सभ्य जाति में कोई भेद नहीं है। यदि है भी, तो केवल नाममात्र का। जिसके हम कृपापात्र हैं, वह कौन है-- बस इसी के वर्णन में हम और वे भिन्न हैं। असभ्यों की वह वस्तु पेड़ में, पहाड़ मे, नदी में एवं अन्य प्रकार की वस्तुओं में है। सभ्यों की वह वस्तु ईश्वर अथवा ब्रह्म का रूप धारण कर लेती है। मूर्तिपूजा, पशुपूजा, पितृपूजा, बहुदेववाद, एकदेववाद, ईश्वर-वाद, ब्रह्म-चिन्तन आदि उसी एक वस्तु की पूजा के भिन्न भिन्न रूप हैं।

बहुधा यह प्रश्न पूछा जाता है कि धर्म त्रिकाल में एक-सा है अथवा परिवर्तनशील है। कोई-कोई कहते हैं कि धर्म का रूप भूत, भविष्यत् और वर्तमान में एक-सा ही है। वह कभी नहीं बदलता। दूसरे कहते हैं कि धर्म बदलता रहता है और शब्द आपद्धर्म ही इसका प्रमाण है। साधारणतः मुसलमान लोग धर्म को निश्चित तथा हिन्दू और योरप निवासी धर्म को गतिशील समझते हैं पहलेपहल वृक्ष, पशु आदि, तदनन्तर बड़े बड़े नदी, पर्वत, फिर स्पर्शातीत, रूपातीत, आकाश, मरुत् आदि पदार्थ हमारे धर्म-भाव की पूर्ति करते प्रतीत हुए। किन्तु समयवश धर्म वृद्धि को प्राप्त हुआ और इंद्रियातीत ३३ कोटि देवता फिर पंचदेव, त्रिदेव आदि उसी भाव की पूर्ति करने लगे। अंततः वह भाव ईश्वर और ब्रह्म में लीन हो गया। आनन्दकंद भगवान् श्रीकृष्णचंद्र श्रीमद्भगवद्गीता में कहते हैं —

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत,
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।

जब जब धर्म में रुकावट आती है, तब-तब मैं धर्म की उन्नति के लिए प्रकट होता हूँ।

महर्षि कणाद की धर्म-व्याख्या भी यतोऽभ्युदयनिश्रेयः सिद्धिः स धर्मः विकासवाद का पोषण करती है। नेदं-नेदं आदि केनोपनिषद् के वचन भी परिवर्तनशीलता के द्योतक हैं। उपनिषदों में ब्रह्म की चर्चा नकारात्मक है यथा —

नाहं मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च,
यो नस्तद्वेद तद्वेद नो न वेदति वेद च। (केन० १०)

अर्थात् मैं नही मानता कि मैं ब्रह्म को भली प्रकार जानता हूँ, और मैं यह भी नहीं मानता कि मैं उसे नहीं जानता। हममें से जो व्यक्ति कहता है कि मैं ब्रह्म को भली भाँति जानता हूँ वह व्यक्ति वास्तव में उसे नहीं जानता और जो यह कहता है कि मैं उसे नहीं जानता वह वास्तव में उसे जानता है। विकासवादानुसार ही दशावतारोंकी संख्या गिनाई जाती है। यथा—

मत्स्यः कूर्मो वराहश्च नरसिंहोऽथ वामनः
रामो रामश्च कृष्णश्च बुद्धः कल्की च ते दश।

धर्म मन का गुण है, मन प्रकृति है और प्रकृति परिवर्तनशीला है। अतएव धर्म भी परिवर्तनशील होना चाहिए।

धर्म और रिलीजन

धर्म विस्तृत शब्द है और रिलीजन संकुचित। आंग्लभाषा में धर्म के जोड़ का कोई शब्द नहीं है। पश्चिमी विद्वानों ने कहा है कि साधारणतः रिलीजन का अर्थ सगुण ईश्वर, आत्मा और संसार तथा भविष्य में पाप-पुण्य का फल आदि में विश्वास है। बिशप बटलर के अनुसार संसार के कर्त्ता तथा नियामक ईश्वर में तथा भविष्य में पाप-पुण्य के फल में विश्वास को ही रिलीजन कहते हैं। डा० मार्टिनो का मत है कि सर्वदा रहने वाले ईश्वर अर्थात् उस दैवीय मन — और इच्छा में विश्वास रिलीजन है, जो मानव-जाति से सदाचार संबंध रखता है। मोक्षमूलर का मत है कि रिलीजन उस अनन्त शक्ति के प्रादुर्भाव में विश्वास है, जो मनुष्यों के सदाचार पर प्रभाव डालती है। डा० एलन का मत है कि आवश्यकता के दबाव से उन्नत शक्तियों की पूजा का नाम ही रिलीजन है, सर फ्रेजर का मत है कि उन मनुष्येतर उन्नततर शक्तियों को प्रसन्न करना अथवा उनसे मेल करना ही रिलीजन है, जो मानव-जीवन और प्रकृति को प्रभावित और नियमित करते हैं। इन कतिपय व्याख्याओं से विदित होता है कि धर्म शब्द बहुत विस्तृत है। उसमें रिलीजन मेटाफिजिक्स (परमातिपरम चिन्तन), ऐथिक्स (सदाचार-शास्त्र), ला (दण्डनीति), पालीटिक्स (राजनीति) आदि का समावेश है।

हिन्दुओं का सनातन धर्म क्या है ?

हम ईश्वर की व्याख्या नहीं कर सकते, क्योंकि वह अनन्त है। ईश्वर की व्याख्या करना मानो सागर को गागर में भर देने का-सा। प्रयत्न मात्र है। इसी प्रकार सनातनधर्म की, जो बहुत विस्तृत है, व्याख्या करना विफल प्रयत्न है। तथापि उसके मूल-सिद्धांत बताना असम्भव नहीं है, कठिन अवश्य है। सनातन-धर्म निर्गुण निराकार ब्रह्म में, सगुण सृष्टिकर्त्ता ईश्वर में, ब्रह्मा, विष्णु' महेश साकारईश्वर-शक्तियों में, उनके चौबीस अवतारों में, तेंतीस कोटि देवताओं में, स्वर्ग, नरक आदि अनेक लोकों की सत्ताओं में, ऋषि-पितृ-तर्पण और श्राद्धादि में, कर्मसिद्धान्त, पुनर्जन्म और मोक्ष में, ४ वेद, १८ पुराण, षड्दर्शन, ११ उपनिषद्, १८ स्मृतियों आदि ग्रन्थों की

प्रमाणता में, फलित ज्योतिष आदि वैज्ञानिक विद्याओं मे, उच्च कोटि के पातिव्रत-धर्म में, तीर्थ यात्रा और मूर्तिपूजा की लौकिक आवश्यकता में, जाति, गुण, कर्मानुसार समाज-श्रेणियों और षोडश संस्कारों में, वैज्ञानिक शुद्धि में, तथा अहिंसात्मक धर्म प्रचारादि में विश्वास सनातन-धर्म के अनुकूल है ।

सनातन धर्म का प्रत्येक सिद्धान्त वैज्ञानिक है और उसको पूर्ण रीति से समझाना इस लेख के अभिप्राय से बाहर है ।



रीतिकालीन आचार्य कविराज सुखदेव मिश्र

रामप्रसाद मिश्र*

रीतिकालीन (सं १७००-१९००वि०) हिन्दी-साहित्य के इतिहास में कला पक्ष उत्कर्ष का काल था। भक्तिकाल (सं १३७५-१७०० वि०) में भाव पक्ष का महान् उत्कर्ष हो चुका था। तुलसी और सूर के पश्चात् कवियों का अपने अस्तित्व के रक्षण के लिए, कला की दिशा को सुगम समझना सर्वथा स्वाभाविक प्रतीत होता है। संस्कृत जैसे विश्व के महतोमहीयान् एवं अतुलनीय साहित्य में भी, वाल्मीकि और कालिदास प्रभृति भाव-सम्राटों के पश्चात् भारवि और श्रीहर्ष प्रभृति कला-सम्राट् दृष्टिगोचर होते हैं। रीतिकाल हिन्दी साहित्य का शास्त्रीय काल था। भावपक्ष के महान् उत्कर्ष के पश्चात् अनेक साहित्यों में शास्त्रपक्ष का उत्कर्ष होता देखा जा सकता है। अंग्रेजी साहित्य में भी शेक्सपियर और मिल्टन प्रभृति भाव-सम्राटों के पश्चात् ड्राइडन और पोप प्रभृति शास्त्रीय-काव्यकारों का उदय हुआ था। रीति-काल अथवा शास्त्रीयकाल के अनेक कवि रीतिग्रन्थकार अथवा शास्त्रीयग्रन्थकार थे। चिन्तामणि' भूषण, मतिराम, देव, कुलपति, भिखारीदास, पद्माकर इत्यादि, एक सीमा तक, आचार्य भी थे। सुखदेव मिश्र इन्हीं आचार्यों की पंक्ति में एक निश्चित स्थान के अधिकारी हैं। खेद है कि उन पर अभी तक पृथक् एवं पूर्ण अनुसन्धान, कार्य नहीं किया गया। आशा है, समर्थ अनुसन्धित्सु के लिए यह लघु-निबन्ध उपयोगी सिद्ध होगा।

सुखदेव मिश्र अपने समय के एक प्रसिद्ध कवि, आचार्य और साधु थे। उनका काव्यकाल सं० १७२० से १७६० तक माना गया है। वे असोथर के प्रसिद्ध काव्य

*प्राध्यापक, कवि, आलोचक तथा उपन्यासकार।

प्रेमी राजा भगवंतराय खींची, डौंड़ियाखेरा के राव मर्दनसिंह, औरंगज़ेब के मन्त्री फाजिलअलीशाह और मुरारमऊ के राजा देवीसिंह द्वारा सम्मानित किए गए थे। राजा राजसिंह गौड़ ने उन्हें कविराज की पदवी दी थी, जिसका प्रयोग उन्होंने अपने अनेक छन्दों में किया है। उन्होंने अनेक छन्दों में सुखदेव शब्द का भी प्रयोग किया है। उनका जन्म प्रसिद्ध काम्पिल्य (कम्पिला) नगरी में हुआ था। काशी में विद्याध्ययन के पश्चात् वे विभिन्न दरबारों में रहे, और मुरारमऊ (ज़िला रायबरेली, उत्तर प्रदेश) के राजा के विशेष आग्रह पर उसी के राज्य में स्थित दौलतपुर गाँव में बस गए, जहाँ उनके वंशज अब तक विद्यमान हैं। राजा उनका शिष्य बन गया था। अब तक ऐसी परम्परा चली आ रही है। इसी दौलतपुर ग्राम में आधुनिक हिन्दी के महान् आचार्य पण्डित महावीर प्रसाद द्विवेदी का जन्म (सं० १६२१ वि० में) हुआ था। आचार्य द्विवेदी ने सुखदेव मिश्र के जीवन वृत्त पर "सरस्वती" में प्रकाशित एक निबन्ध में अच्छा प्रकाश डाला था। दौलतपुर में उनके वंशजों में से एक-दो महानुभावों के पास उनकी एक-दो पुस्तकों की प्रतियाँ विद्यमान हैं। नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी के पुस्तकालय में भी उनकी पुस्तकों की प्रतियाँ प्राप्त हैं। कुछ रजवाड़ों के पुस्तकालयों में भी उनके ग्रन्थों की प्रतियां विद्यमान हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने "हिन्दी साहित्य का इतिहास', शीर्षक प्रसिद्ध ग्रन्थ में उनके सात ग्रन्थों का उल्लेख किया है, वृत्तविचार (संवत् १७२८), छंदविचार, फाजिलअली-प्रकाश, रसार्णव, शृंगारलता, अध्यात्म-प्रकाश (संवत् १७५५), तथा दशरथराय। रसार्णव और फाजिलअली-प्रकाश शृंगाररस की दृष्टि से अतीव उत्कृष्ट कृतियाँ हैं। वृत्तविचार और छंदविचार उनके पिंगल-ज्ञान के प्रौढ़ प्रतीक हैं। अध्यात्म-प्रकाश में उन्होंने ब्रह्मज्ञान-निरूपण किया है। लगता है, यह उनकी अन्तिम कृति थी। इस ग्रंथ के विषय में कुछ अधिक ज्ञान नहीं हो सका। जीवन के अन्तिम चरण में सुखदेव मिश्र एक विरक्त साधु के रूप में गाँव से बाहर गंगा के निकट रहने लगे थे। उस समय उन्होंने भक्ति के छंद भी लिखे थे जिनमें, जनश्रुति से प्राप्त रूप में, एक यह है,

आलस नींद में मातो सदा अरु उद्दिमहीन दु बेर खवैया।
प्यास लगै नहिं पानी भरौं अरु पास धरो उठि कै न पियैया॥
ऐसे निकम्मन को सुख देव कृपा के धाम हो पेट भरैया।
भोर से साँझ औ साँझ से भोर लौं मो सो कुपूत न तो सो दिवैया॥

दौलतपुर में सुखदेव मिश्र के अधिकाँश वंशज उन्हें एक कवि अथवा एक आचार्य के रूप में नहीं, एक सिद्ध तथा एक सन्त के रूप में याद करते हैं। उन पर प्रचलित कथाएं संगृहीत की जाएं तो एक पुस्तक तैयार हो जाए। एक कथा के अनुसार एक बार वे और राजा साथ-साथ जा रहे थे। संयोगात् राजा ने कहा आप कभी मुझे नमस्कार नहीं करते, जबकि राजा शास्त्रानुसार वंद्य होता है। उन्होंने कहा, इसका कारण आपकी कल्याण-कामना है। राजा कुछ समझ न सका तब उन्होंने पास के एक हरे भरे वृक्ष को प्रणाम किया। तत्काल वह सूख कर एक भारी ठूंठ में परिणत हो गया। अब राजा की समझ में सब कुछ आ गया। उसने उनके चरण पकड़े, क्षमा-याचना की। एक अन्य कथा के अनुसार, वे शक्ति के उपासक थे तथा बलि में रुचि रखते थे; महाप्रसाद ग्रहण करते थे। चुग़लख़ोरों ने राजा से जा जड़ा कि आपके गुरु तो माँसाहारी हैं! पहले तो राजा को विश्वास ही नहीं हुआ किन्तु बहुत बार कहे जाने पर वह सत्य की परीक्षा के लिए एक दिन अचानक चुग़लखोरों के बताए हुए समय पर उनके घर आ पहुंचा। वे सारा रहस्य समझ गए। स्वागत-सत्कार के पश्चात् भोजन का स्वाभाविक आग्रह किया। राजा प्रस्तुत हो गया किन्तु, उसके समक्ष माँस नहीं, गुड़हल के फूलों की सब्जी रखी थी! इस चमत्कार से अभिभूत होकर वह उनके चरणों पर गिर पड़ा; उसे "समरथ को नहिं दोष गोसाई" का रहस्य समझ में आ गया।

एक कवि के रूप में सुखदेव मिश्र की सफलता फाजिलअली-प्रकाश और रसार्णव में स्पष्टतः दृष्टिगोचर होती है। उनकी ब्रजभाषा अत्यन्त मधुर और कोमल है। उनका अलंकरण अकृत्रिम और प्रभावी है। नायिकाभेद में वे यत्र-तत्र अति तक का स्पर्श करते प्रतीत होते हैं। वचन विदग्धा-स्वयदूतिका यह सम्मोहक आग्रह देखिए,

ननद निनारी, सासु मायके सिधारी
अहै रैनि अंधियारी भरी, सूझत न करु है।
पीतम को गौन, कविराज न सोहात भौन,
दारुन बहत पौन, लाग्यो मेघ झरु है।
संग ना सहेली, बैस नवल, अकेली,
तन परी तलबेली महा, लाग्यो मैन सरु है।

भई अधिरात, मेरो जियरा डरात,
जागु जागु रे बटोही! यहाँ चोरन को डरु है ।।

शुक्लाभिसारिका का यह वर्णन मीलित, उत्प्रेक्षा तथा उपमा से अलंकृत भी है,

जोहै जहाँ मगु नंदकुमार तहाँ चली चंदमुखी सुकुमार है।
मोतिन ही को कियो गहनो सब फूलि रही जनु कुंद की डार है ।।
भीतर ही जो लखी सो लखी, अब बाहिर जाहिर होति न दार है।
जोन्ह सी जोन्हैं गई मिलि यों मिलि जाति ज्यों दूध में दूध की धार है ।।

सुखदेव मिश्र अपने समय में ही पर्याप्त प्रसिद्ध हो गए थे। उनकी प्रसिद्धि एक अच्छे अर्से तक क़ायम रही। भिखारीदास जैसे प्रौढ़ आचार्य ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ "काव्य-निर्णय" में उन्हें आप्त कवियों की पंक्ति में प्रतिष्ठित किया था,

सूर, केशव, मंडन, बिहारी कालिदास, ब्रह्म,
चिंतामनि, मतिराम, भूषण सु जानिए ।
लीलाधर, सेनापति, निपट, नेवाज, निधि,
नीलकंठ, मिश्र सुखदेव, देव मानिए ।।
आलम, रहीम, रसखान, सुंदरादिक,
अनेकन सुमति भए कहाँ लौं बखानिए।
ब्रजभाषा हेत ब्रजबास ही न अनुमानौ,
ऐसे ऐसे कबिन की बानी हू सों जानिए ।।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने, उन्हें "साहित्यशास्त्र के अभ्यासी पंडित" के रूप में स्वीकार करते हुए, लिखा है, "वास्तव में ये बहुत प्रौढ़ कवि थे और आचार्यत्व भी इनमें पूरा था। छंद:शास्त्र पर इनका सा विशद निरूपण और किसी कवि ने नहीं किया है। ये जैसे पंडित थे वैसे ही काव्यकला में भी निपुण थे।"



'कृष्ण के व्यक्तित्व में गोपाल भावना का समावेश'

हरगुलाल*

पौराणिक महापुरुषो में कृष्ण का व्यक्तित्व सबसे अधिक प्रभावशाली और महत्वपूर्ण है। परमात्मा के अनेक अवतारों में श्रीकृष्णावतार नितान्त अद्भुत और विविधता पूर्ण है। इसी से 'कृष्णस्तु भगवास्वयम्' कह कर उनकी महत्ता प्रकट की गयी तथा उन्हें उस समय का अद्वितीय व्यक्ति उद्घोषित किया गया है —

वेद वेदांग विज्ञानं बलम् चाप्यधिकं तथा।
नृणाम् हि लोके कोऽन्योऽस्ति विशिष्टः केशवादृते।
('महाभारत', 'सभापर्व', ३८/१९)

अर्थात्- श्रीकृष्ण में बलकी अधिकता है और साथ-साथ वे वेद-वेदांग के भी विद्वान् हैं। ब्राह्म और क्षात्र दोनों शक्तियों का उनमें सुन्दर समन्वय है। अतः श्री कृष्ण से बढ़कर और कोई व्यक्ति नही है। महाभारत के कृष्ण इन सभी गुणों से सम्पन्न हैं। वे अपना समस्त जीवन आर्य संस्कृति के लोक रक्षक रूप का उन्नयन करने में व्यतीत कर देते हैं और सम्भवतः उन दिनों आर्य जनता ने इसी लोकादर्श के चरणों में अपने जीवन की समस्त श्रद्धा समर्पित करके सत्य के लिये असत्य के विरुद्ध और कर्त्तव्य के लिये अकर्त्तव्य के विरुद्ध संघर्ष करने की अपरिमित प्रेरणा

*बर्सर एवं अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग, पी०जी०डी०ए०वी० कालेज, नेहरू नगर, नई दिल्ली

प्राप्त की होगी। वास्तविक सत्य यह है कि किसी समय जनता ने कृष्ण को अपने इतने निकट पाया कि वह स्वयं कृष्णमय हो गई। दूसरी ओर भावुक भक्त और सहृदय कलाकारों ने कृष्ण के लोक रंजक रस का इस चातुर्य से वर्णन किया कि वे भारतीय जनता के रोम-रोम में बस गये। कृष्ण का यह रूप उनके रक्षक रूप की अपेक्षा ओजस्वी और उर्जस्वित न होकर एक दम कोमल और मनोहारी है। कृष्ण अपने इस रूप में गोचारण के लिये जाते हैं, वन्य जीवन की रंग-विरंगी धारियों से खेलते हैं, दोपहर के समय विशाल वृक्ष की छाया में बैठ कर साथियों के साथ छाक खाते हैं और आवश्यकता पड़ने पर छीना झपटी भी कर लेते हैं। (सूरसागर, दशमस्कन्ध पद १४१, ४१६ तथा ४३७) निश्चय ही कृष्ण अपने इस रूप में वैभव को तिलांजलि देकर सर्वसाधारण में आ मिलते हैं। कृष्ण के इस जनवादी रूप का निर्माण समाज के बीच में हुआ है, लोक विरोधी तत्वों का इसमें नितान्त अभाव है।

अब विचारणीय प्रश्न यह है कि कृष्ण के व्यक्तित्व में गोपाल भावना का सन्निवेश कब हुआ और कैसे हुआ? विद्वानों के विचारानुसार कृष्ण के व्यक्तित्व में गोपाल भावना का समावेश ईसा पूर्व पहली और तीसरी शती के मध्य में हुआ था। इस समय तक आभीर सत्तारूढ़ हो चुके थे। सन् १८० ई० के क्षत्रपात रुद्रसिंह के लेख, सन् ३०० ई० के नासिक वाले गुप्त लेख तथा सन् ३६० ई० के समुद्र गुप्त वाले स्तम्भ लेख से आभीरों के ईसा की दूसरी शती तक सत्तारूढ़ होने के प्रमाण मिलते हैं। इससे पूर्व आभीरों को इधर उधर घूमने वाले गोपालों के रूप में चित्रित किया गया है और डा० भंडारकर ने इन्हें लुटेरे और म्लेच्छ कहा है यों तो कृष्ण की गोपाल भावना तथा उनकी बाल लीलाओं का स्रोत ऋग्वेद में विष्णु देवता के प्रसंगों में भी वर्तमान है। ऋग्वेद में विष्णु को गोपा (१/२२/१८) कहा गया है और उनके परमपद अथवा स्थान में उत्तम सींगों वाली गायों का रहना (१/१५४/६) भी बतलाया गया है। वैदिक काल में विष्णु का महत्व इतना बढ़ गया है कि वे 'त्रिविक्रम विश्वस' 'तथा राधानांपति' नाम से अभिहित होने के साथ-साथ 'व्रज च विष्णु सचिवां अपोर्णुते' की भावना के आधार पर व्रजभूमि के गोपति बने तथा सूर्य-लोक के साथ-साथ व्रजभूमि में भी उनकी मंडली समझी जाने लगी। आगे चल कर विष्णु का समीकार वासुदेव से हुआ और ईसा पूर्व

पाँचवीं शती में वासुदेव और कृष्ण दोनों मिलकर एक हो गये। पतंजलि के महाभाष्य में दो स्थलों की तुलना करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उनके समय में वासुदेव और कृष्ण को लोग एक ही व्यक्ति के रूप में समझा करते थे। भास के 'कर्णभार' और 'दूतवाक्यम्' नाटकों में कृष्ण को गोपाल रूप में प्रस्तुत किया गया है।

महाभारत में भी कृष्ण के लिये गोविन्द शब्द प्रयुक्त हुआ है, पर वहां इसका अर्थ गौ (गाय) से सम्बन्ध रखने वाला न होकर विष्णु के प्रसंग में पानी मथ कर पृथ्वी निकालने वाले से हैं। महाभारत में कृष्ण जन्म, कंस एवं अन्यान्य असुरों का वध, द्वारिका गमन, देवकी-वासुदेव के उद्धार की घटना, कौरव-पांडव युद्ध, कृष्ण का अर्जुन को युद्ध-क्षेत्र में सारगर्भित उपदेश देना आदि घटनायें विस्तृत रूप में वर्णित की गयी हैं, पर कृष्ण को गोपाल रूप में प्रस्तुत करने का कहीं भी प्रयास नहीं किया गया है। महाभारत के उपदेष्टा कृष्ण लोक साहित्य की अनवरत परम्परा में ढलते २ तथा आभीरों के बाल देवता से सम्पृक्त होने पर गोपाल कृष्ण बन गये। ऋग्वेद में कृष्ण और उनके साथियों को घुमक्कड़ रूप में चित्रित किया गया हैं, उन्हें खेती की चिन्ता नही है, अतः इन्द्र से उनकी प्रतिद्वन्द्विता (८/९६/१३-१५, १०/२७/१० तथा ४/१६/१३ स्वाभाविक है। पौराणिक काल मे कृष्ण और उनके अनुयायी यमुना तट पर बस गये, खेती करने लगे और उनमें इन्द्र की उपासना प्रारम्भ हुई। डा० अविनाश चन्द्र के विचारानुसार यह कहना कठिन है कि प्राचीन इन्द्र-कृष्ण विरोध की कथा ही गोपाल कृष्ण से नहीं सम्बन्धित हो गई।

कृष्ण के गोपाल' रूप का पूर्ण निर्माण 'हरिवंश पुराण' 'वायु पुराण' और 'भागवत पुराण' में हुआ है। भारतीय सभ्यता और संस्कृति का अभिव्यक्त करने की दृष्टि से पुराणों का अपना अलग महत्व है। हमारे धर्म और दर्शन का जितना विशद चित्रण इनमें हुआ है उतना और किसी ग्रन्थ में नहीं हुआ है। 'हरिवंश' पुराण में कृष्ण इन्द्र पूजा का विरोध करके गोवर्धन पूजा का विधान निर्मित करते हैं और गायों को अपना सर्वस्व बतलाते है। पाश्चात्य विद्वान् इसमें प्रयुक्त 'दीनार' शब्द के आधार पर इसकी रचना ईसा की प्रथम शताब्दी के बाद मान कर बालकृष्ण की कथाओं को ईसा की कथाओं का रूपान्तर मात्र मानते हैं। ग्रियर्सन के विचारानुसार ईसाइयों का एक दल सीरिया से आकर मद्रास के दक्षिण

में आबाद हो गया, उन्हीं के प्रभाव से हिन्दुओं में भक्ति मार्ग आया और बाद में दक्षिण भारत से समस्त भारत में फैल गया। आपका यह भी विचार है कि दास्य भक्ति, प्रसाद और पूतनास्तन्य पान भी ईसाइयत की देन है। कृष्ण की कथाओं को ईसा की कथाओं से सम्बद्ध करके कृष्ण की ऐतिहासिकता पर सन्देह करने वालों को सर ग्राडफ्रे हिगिन्स के इस कथन पर अवश्य ध्यान देना चाहिये—ईस्वी सन् से बहुत पूर्व काल के बने हुए देवालयों की दीवारों पर उत्कीर्ण मूर्तियों तथा उसी समय की हस्त लिखित पुस्तकों को देखने से यह निर्विवाद सिद्ध है कि ईसा मसीह की अपेक्षा श्री कृष्ण का काल कही अधिक प्राचीन है (एनेक्लिप्सिस, प्रथम खंड, पृष्ठ १६०)। सम्भवतः यूरोप की कविता पर वहाँ के पशु चारण काव्य (postoral poetry) का जो अक्षुण्ण प्रभाव मधुर संस्कार के रूप में आज तक चला आया हैं एक तो ग्रियर्सन महोदय उससे अत्यधिक प्रभावित लगते हैं। दूसरे अंग्रेजों ने हमारी संस्कृति को हमेशा हेय समझा, हमने जो कुछ सीखा विजेताओ से सीखा और इस आधार पर अगर हमारे कृष्ण और उनके गोप-सखाओं ने ईसा से गाय चराना सीखा तो इसमें आश्चर्य की कौन सी बात है। गोचारण हमारा प्राचीनतम व्यवसाय है। रामायण काल में वैश्यों के तीन मुख्य व्यवसायों गोचारण, कृषि और व्यापार के लिये 'वित्तशास्त्र' शब्द का प्रयोग मिलता है और इसी काल में उसे इतना महत्त्व मिला कि उसे त्रिस्तः विद्या के अन्तर्गत त्रयी (तीनों वेद) एवं दंड नीति के समकक्ष गिना जाने लगा। कालिदास ने 'मेघदूत' में काले मेघ खंडों की समानता मोर मुकुट सहित गोप वेश धारी विष्णु अर्थात् (श्री कृष्ण) से देकर तथा रघुवंश में दिलीप को नन्दिनी के साथ वन-वन में घुमाकर इसी रम्य जीवन का परिचय दिया है।

मध्य युगीन कृष्ण कवियों ने यमुना के कछारों में गोचारण के बड़े सुन्दर दृश्यों का विधान किया है। कृष्ण के प्रथम दिन गोचारण हित जाने के उपलक्ष्य में ब्रज प्रदेश में आज भी कार्तिक शुक्ला अष्टमी को 'गोपाष्टमी नामक त्यौहार मनाया जाता है। सूर के कृष्ण यशोदा से 'गोचारण' प्रसंग की झिलमिली में वन फल खाने की वात कहते हैं

मैयारी मोहि दाऊ टेरत ।
मौकों वन फल तोरी देति हैं, आपुन गैयन घेरत ।

परमानन्द दास के कृष्ण प्रथम दिन गाय चराने जाते हैं तो उनके मस्तक पर गोरोचन, दूध, दधि, रोली और अक्षत लगाया जाता है, सखा 'महुअरि' बजाते हैं एवं समस्त ब्रजजन प्रसन्न होकर अपनी-अपनी गायें उन्हें सौंप देते हैं। अन्य पद में उन्हें गोचारण को जाते देख कर द्विजगण आशिष पढ़ते हैं एवं नन्द बहुत सा दान देते हैं। गोविन्दस्वामी इस अवसर पर विविध वाद्ययंत्रों से सम्पूर्ण 'घोष को गुंजरित कर देते हैं-

प्रथम गोचारन कौ दिन आज।
विविध भाँति बाजे बाजत हैं, रह्यो घोष सब गाज।

माता को अनेक आश्वासन देने पर कृष्ण को गोचारण की आज्ञा मिली। चाचा हित वृन्दावन दास के कृष्ण माता पिता से गोचारण को जाते समय काफी शिक्षा ग्रहण करते हैं- वहाँ वन में जाकर ऊधम न करना, बड़े बड़े ग्वालों की बात मान लेना, ऊंचे वृक्ष पर न चढ़ना, गड्ढे को देख कर पीछे लौट पड़ना, पृथ्वी पर हुए छेद में उंगली मत डालना, गहन वन में अकेले मत जाना एवं अंधेरी कुंज में भूल कर भी पांव मत रखना। सूर के कृष्ण इस डर से रात भर जागते रहते हैं कि कहीं प्रातः काल होते ही ग्वाले उन्हें सोता देख छोड़ कर न चले जाँय—

आजुन सौवों नन्द दुहाई, रैनि रहौंगो जागत।

सम्पन्न परिवार से सम्बन्धित होते हुए भी बिना धूप छांह की चिन्ता किये कृष्ण का इस तरह गाय चराने जाना इस बात का प्रमाण है कि उन दिनों गोचारण गरीब, अमीर सभी तरह के लोगों के लिये आजीविका का मुख्य साधन था।

सूर ने एक पद में धौरी, धूमरि, राती, रौंछी, पियरी, मौरी, गौरी, गैनी, खैरी, कजरी, दुलही, फुलही, भौरी, भूरी आदि अनेक प्रकार की गायों का उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने गायों की प्रवृत्ति और चेष्टा आदि का भी वर्णन किया है, जैसे—नन्द की नयी गायें सबसे आगे दौड़ी जाती हैं, क्योंकि नया पशु ढोरी से घर भागना चाहता है। तभी तो सखा कृष्ण को किसी पेड़ पर चढ़कर आवाज लगाकर उन्हें रोकने को कहते हैं। लोग यह देखकर प्रसन्न होते हैं कि कृष्ण द्वारा

चरायी हुई गायें बहुत मोटी हो गयी हैं और दूध भी बहुत देने लगी हैं—

मोटी भई चरत वृन्दावन, नन्द कुंवर की पालीं।
काहे न दूध देहिं ब्रज-पोषन, हस्त कमल की लालीं।

(सूरसागर)

'गोपाल' नाम को सार्थक करने की दृष्टि से सूर ने अपने आराध्य देव के माध्यम से गोचारण प्रसंग में कुछ ऐसे चित्र उरेहे हैं जिनकी सजीवता और सरसता अवर्णनीय है। इन चित्रों में रंग भरने का कार्य कृष्ण के अकृत्रिम जीवन ने किया है, जिसमें दधि-भात सानकर सखाओं को देते हैं, कभी कमल के पत्ते पर भोजन परोस लेते हैं और कभी ढाक के पत्ते का 'दोना' बना कर उसमें दधि, लवनी, मिष्ठान्न रख लेते हैं, बीच में सखाओं से छीना-झपटी करते हैं, वनफल तोड़ कर मंगा लेते हैं और उन्हें रुचिपूर्वक खाते हैं—

बन भोजन विधि करत, कमल के पात मंगाये।
तोरे पात पलास, सरस दोना बहु लाये।
भांति-भांति भोजन धरे, दधि लवनी-मिष्ठान्न।
बन फल लाए मंगाई कैं, रुचिकर लागे खान।

सखावन में गाय चराते फिरते हैं और फिर इन्हीं सखाओं द्वारा कृष्ण को प्रलोभन दिया जाता 'चलो ताल वन चलें, वहां का जैसा तो वन ही नहीं देखा, चलो कुमुद वन चलें अरे वहां बहुत घास है और कभी वे कहते तुम्हारे शरीर पर धातु चित्र बनायेगें तुम्हें वन माला पहनायेगें' -

'वनमाला तुमकों पहिरावहिं धातु-चित्र तनु रेखहिं'। और बेचारे कृष्ण भी क्या करते अब तो वे सखाओं के हाथ में पड़ गये हैं, देखिये कृषण का सखाओं ने क्या रूप बना दिया है—

मोर पंख सिर मुकुट की मुख मटकनि की बलि जाउं।
उर पर पदिक कुसुम वनमाला, अंगद खरे विराजैं।
चित्रित बांह पहुँचिया पहुंचै, हाथ मुरलिया छाजै।

(सूरसागर, पद ४५१)

अपनी धुन के धनी, मनमौजी अल्हड़, प्रकृति के सच्चे सपूत ये गोप-ग्वाले वन प्रदेश में पहुंच कर कृष्ण के साथ नाना प्रकार के खेल खेलते हैं। खेलते खेलते लड़ाई भी हो जाती है, सभी रुस जाते हैं और फिर मनाने का क्रम चलता है। परमानन्द दास ने एक पद में अपने प्रभु को बालक लीला खेलते हुए बहुत से स्थानों पर 'धाँई' लेते हुए चित्रित किया है।

रामायण काल की तरह से मध्यकाल में भी पशु प्रधान ग्राम को -घोष' कहा जाता था। 'दान लीला' प्रसंग में सूर की गोपियों का मटकियों में दूध, दही, मक्खन, घी आदि भरकर मथुरा ले जाकर बेचने में एक प्रकार के विकसित व्यवसाय का परिज्ञान होता है। दूध और दूध से बनी चीजें बेचने के कारण तो 'हरिवंश' के रचयिता एवं भागवतकार आभीरों को वैश्य मानते हैं। कुछ भी हो गोचारण किसी समय सभी जाति के लोगों का मुख्य व्यवसाय माना जाता था, कृष्ण काव्य ने इन व्यवसाय को और अधिक आकर्षक बना दिया है। गोधन-पूजा के अवसर पर गायों को अलंकृत करके उन्हें खिलाने की प्रथा ब्रज संस्कृति का अभिन्न अंग बन गया है। इन्द्र के स्थान पर गोवर्धन की पूजा के प्रसंग में गो-संवर्धन के स्पष्ट संकेत मिलते हैं।

समग्रत: गोचारण हमारा प्राचीनतम व्यवसाय है। वैदिक काल से लेकर आज तक इसने हमारी संस्कृति को अनेक मोड़ प्रदान किये हैं तथा यह प्रसंग हमारे विशाल सांस्कृतिक इतिहास में एक दम सत्य और उजागर है। ग्रियर्सन महोदय ने हमारे काव्य के मधुरतम प्रसंग को अपनी देन कहकर जो तर्क प्रस्तुत किये हैं वे एकदम लचर और सारहीन हैं। सच तो यह है कि इस मोर मुकुट मुरली वाले ने कंधे पर काली कमरी डाल कर वनों में गायों के पीछे दौड़ते हुए जिस काव्य-सृजन की प्रेरणा को जन्म दिया उसका वेद अमन्द और चिर शाश्वत है। रस-सम्प्रेषण की दृष्टि से यह कथा आकर्षक है, कोमल है और सभी दृष्टियों से वर्णनातीत है।



कबीर और अवतारवाद

विलियम द्यार*

कबीर-दर्शन में अवतारवाद के प्रति उनका दृष्टिकोण एक केन्द्रीय महत्त्व रखता है। इस प्रकार, अवतारवाद पर उनके मत का संक्षिप्त अध्ययन उनकी समस्त विचार-धारा का प्रतिनिधि अध्ययन के रूप में लिया जा सकता हैं।

राम की विलक्षण निर्गुणता :– कबीर के अध्ययन में जब कभी यह प्रश्न उठता है कि ब्रह्म क्या है, अथबा कौन है? तो यह देखा जाता है कि कबीर का उत्तर मिश्रित है। उनके आराध्य में कुछ ऐसे तत्त्व मिलते हैं जो शांकराद्वैत से साम्य रखते हैं, रामानुजाचार्य के सगुण ब्रह्म के कुछ तत्त्व भी उपलब्ध हो सकते हैं, और उनके साथ-साथ कबीर की कुछ अपनी मौलिक धारणाएं भी हैं। अपने आराध्य की विलक्षणता का वर्णन करने में कबीर की उक्तियों में विशेषणों और उपाधियों की प्रचुरता है। किन्तु वे अद्वैत की अखण्डता सुरक्षित रखने के लिए सदा सतर्क रहते हैं। उनका यह अभिप्राय कभी नहीं रहा कि गुणों के कारण ब्रह्म में भेदों या आंतरिक विभिन्नताओं का सन्निवेश हो जाए। यह प्रसिद्ध है कि सभी वेदांतियों में केवल शंकराचार्य ने ब्रह्म की समस्त आंतरिक विभिन्नताओं का निराकरण किया। दूसरे वेदांती ब्रह्म में कम से कम स्वगत भेद मानते हैं जिनके कारण ब्रह्म अंगी, शरीरी आदि हो गय।। उदाहरणार्थ, रामानुजाचार्य के ब्रह्म में गुणों के कारण आंतरिक भेद अवश्य उत्पन्न हो जाते हैं। किन्तु कबीर ने, गुणों को स्वीकार करते हुए भी, अंगी या शरीरी ब्रह्म को कभी स्थान दिया, इसका कुछ प्रमाण नहीं है। अद्वैत

*आस्ट्रेलिया वासी, दिल्ली विश्वविद्यालय में उक्त विषय पर अनुसन्धान।

वेदांतियों को छोड़कर, अन्य वेदांती सगुण ब्रह्म को इसलिए मानते हैं, कि वे सगुण ब्रह्म को विष्णु अथवा विष्णु के अवतार-विशेष को मानते हैं

अतएव यह दिखाना उचित होगा कि अवतारवाद पर कबीर का क्या मत है, और उन्होंने उसे मान्यता क्यों नहीं दी ? उनका तर्क संक्षेप में यह है : अवतारवाद ब्रह्म की अखण्ड एकता से मेल नहीं खाता : कोई भी मनुष्य या पशु, या मूर्ति, ब्रह्म के अनन्त गुणों के भागी नहीं हो सकते । कबीर का ब्रह्म इस अर्थ में सगुण हैं कि वह दिव्य गुणों की असीम राशि है, यद्यपि उसमें त्रिगुणात्मकता पूर्णतया निषिद्ध है। निर्गुण राम को जपने का आदेश देने में कबीर का आशय यह है कि पुराणों और परवर्ती संप्रदायों में निरूपित भगवान् के रूप और रंग उन्हें मान्य नहीं। फिर भी उनके लिए निर्गुण का अर्थ सर्वथा निषेधात्मक नहीं, क्योंकि वे सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणों के अतिरिक्त राम के सामर्थ्य, प्रेम, सौंदर्य आदि का निरन्तर गुण-गान करते हैं । यह सगुणता अवतारवाद की धारणा से नहीं, वरन् भक्ति-मात्र के आग्रह से व्युत्पन्न है । अवतारवाद जैसी बहुप्रचलित धारणा कबीर से अनदेखी नहीं रह सकी, इसलिए यह कोई आश्चर्य नहीं कि उन्होने सोच-समझकर और प्रत्यक्ष रूप से उसका खंडन किया ।

पुराणों के प्रति कबीर की धारणा : कबीर के काव्य में यद्यपि पौराणिक प्रसंगों की संख्या अधिक नहीं है, तथापि उनसे पुराणों के प्रति कबीर का विचार सरलता से निकाला जा सकता है। अवतारवाद का मूल आधार पुराण और विशेषकर श्रीमद्भागवत है । यह विचारणीय है कि पुराणों पर कबीर की कोई आस्था नहीं है । उनका विचार है कि राम-नाम-भजन के अतिरिक्त अन्य सभी साधनाएं, और पुराण-पाठ भी, चचल मन के अधम काम हैं ।

सभै मदिमाते कोऊ न जाग ।
संग ही चोर घरु मुसन लाग ।। टेक ।।

जोगी माते धरि धियान । पंडित माते पढ़ि पुरान ।।
चंचल मन के अधम काम । कहै कबीर भजि राम नाम ।।

पौराणिक मतों पर कबीर का आक्षेप स्पष्ट है । उनका अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि पुराण आदि भ्रम को बढ़ावा देते हैं

एक रमैनी पद में यह बात उठायी गयी है कि सबका आधार और स्वयं निराधार राम, सगुण अवतार-रूप हैं, या इन अवतारों से भी परे निर्गुण हैं। इस संदेह का निराकरण करने के लिए अनेक अवतारों का सिंहावलोकन प्रस्तुत किया जाता है और तदनंतर कबीर अपना निर्णय देते हैं :-

कहै कबीर बिचारि करि, ए ऊले व्यौहार।
याही तैं जो अगम है, सो बरति रहा संसार।।

इसका अर्थ यह है कि कबीर सोच विचार कर कहते हैं कि यह अवतारवाद बे-ठिकाने आ व्यवहार है क्योंकि अवतारवाद यह प्रतिपादित करता है कि जो अगम है वह संसार में रहकर व्यवहार कर सकता है। 'ऊले' पद का अर्थ तनिक अस्पष्ट है। यदि वह 'ऊलना' (उछलना) से संबंधित है तो ऊपर दिया हुआ अर्थ ठीक है। डा० माता प्रसाद गुप्त का सुझाव है कि, नागरी प्रचारिणी सभा का पाठांतर स्वीकार किया जाए और पाठ 'वैले व्योहार' ग्रहण किया जाए, जिसमें 'वैले' (उपरिला) का अर्थ संभवतः 'ऊपरी' है। (कबीर-ग्रंथावली, पृ० ४१३) जो हो, अर्थ में अंतर अधिक नहीं है। कबीर का निष्कर्ष स्पष्ट है कि कोई ऐसी कल्पना हेय है जिसके अनुसार अगम ब्रह्म का सांसारिक व्यवहार प्रतिपादित किया जाए।

अवतारवाद के प्रति इस स्पष्ट वितृष्णा के होते हुए भी 'कबीर ग्रंथावली' में पौराणिक संदर्भों का बहिष्कार नहीं किया गया। राम भक्ति का उपदेश देने के लिए पौराणिक कथाओं को प्रस्तुत करने में कबीर को कोई आपत्ति नहीं है। ऐसा लगता है :—

अजामेल गज गनिका पतित करम कीन्हें।
तेऊ उतरि पारि गए राम नाम लीन्हें।।

यदि पुराणों का पाठ सुनने से राम-नाम की भक्ति सीखी जा सके तो पुराण-पाठ स्वीकार्य हैं, अन्यथा नहीं :—

नहीं छांड़उं रे बाबा राम नाम।
मोहि अउर पढ़न सौ नहीं काम।।

फिर भी कबीर को पौराणिक कथाओं एवं पात्रों की अच्छी जानकारी थी, इसमें सन्देह नहीं क्योंकि 'कबीर ग्रंथावली' में पचास से अधिक पौराणिक पात्रों का उल्लेख पाया जाता है ।

पुराण पात्रों का मूल्यांकन : — इस विषय में यह स्मरण रखना आवश्यक है कि इसका पर्याप्त साक्ष्य है कि कबीर पुराणों को, ऐतिहासिक, इतिवृत्तात्मक वर्णन मानते थे । इतिहास और पुराण के बीच के अंतर से अवगत वर्तमान पीढ़ी पंद्रहवीं शताब्दी के मनुष्य का ऐसा दृष्टिकोण न समझकर उसे तुच्छ समझेगी, तो समझे किन्तु उस युग की मनोवृत्तियों को भली भांति समझना, कबीर के विचारों को समझने में पहला सोपान हैं ।

वर्तमान युग में विद्वद्वर्ग पौराणिक कथाओं, पात्रों और विशेषकर अवतारों की व्युत्पत्ति और अर्थ लगाने की चेष्टा करता है । इस प्रकार, बराह जैसे पशु अवतारों के संबंध में यह मत प्रकट किया जाता है कि आरम्भ में ये अनार्य जातियों में पूजे जाने वाले पशु-विशेष थे जो बाद में आर्य संस्कृति में देवताओं के रूप में समाये गए । कुछ विद्वानों का मत है कि अवतार, प्रारम्भ में ऐतिहासिक व्यक्ति थे जिनके चरित्रों पर देवत्वारोपण किया गया । ये विचार आधुनिक गवेषणात्मक मंतव्य से उद्भूत हैं । कबीर इस प्रकार की अर्वाचीन गवेषणाओं से अनभिज्ञ रहे होंगे । जब हम कबीर की वाणियों में देवताओं अथवा पौराणिक पात्रों का उल्लेख पढ़ते हैं, तब हमें इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता कि इन देवताओं और पात्रों की ऐतिहासिकता पर आशंका लक्षित की जा रही हो । उदाहरणार्थ कबीर ब्रह्मा, विष्णु, महेश इन देवताओं को ऐतिहासिक व्यक्तियों का दर्जा देकर, उन पर झूठे मार्गों का संचालन करने का आरोप लगाते हैं : —

साँच कहौ तौ कोई न मानैं, झूठ कहा नहिं जाई हो ।
ब्रह्मा बिस्नु महेसुर दुदिया, जिन यहु राह चलाई हो ।।

यहां त्रिदेव के अस्तित्व पर नहीं, उनकी शाश्वतता पर संदेह किया जाता है : —

धरती आकाश पवन नहिं पानीं नहिं तब आदी माया हो ।
ब्रह्मा बिस्नु महेस नहीं, तब जाव कहां तैं आया हो ।।

देवता कैलास में रहते हैं अथवा रहते थे, इस तथ्य पर अविश्वास नहीं प्रकट किया जाता, किन्तु उन पर अनास्था ही प्रकट की जाती है : —

जौ जांचउ तौ केवल राम।
आन देव सौं नांहीं काम।।

हनुमान को लिया जाए। पवनपुत्र ने लंका पहुंचने के लिए पुल बांधा था, कबीर इसे ऐतिहासिक घटना मानते हैं, किन्तु उनके विचार से इस घटना का मोक्ष से कोई सरोकार नहीं : —

सूर चंद मुए रबि सेसा। मुए हनुमान जिन्हि बांधल सेता।।

कबीर का तात्पर्य यह है कि मरणशील से अमरता की आशा नहीं की जा सकती। कृष्ण भी एक समय थे, किन्तु अब नहीं रहे : —

मूए कृस्न मुए करतार...

जो स्वयं आवागमन में बंधा हुआ है उस पर आस्था रखनी बेकार है। इसी प्रकार हिरण्यकशिपु की समस्त कथा प्रस्तुत की जाती है और उससे भक्ति की शिक्षा भी लाभान्वित की जाती है, परन्तु न हिरण्यकशिपु, न शंडामर्क, न खंभे से नरसिंह के कूद निकलने का वृत्तान्त, असत् अथवा अनैतिहासिक बताए जाते हैं। राम ने दशरथ के घर जन्म लिया, कबीर के लिए यह निर्विवाद ऐतिहासिक घटना है, बस, दाशरथी राम की शाश्वतता पर अविश्वास प्रकट किया जाता है। वे अन्य देवताओं के साथ कबीर के निर्गुण राम के अधीन हैं। इसी प्रसंग में कृष्ण के ऐहिक व्यवहार पर न केवल विश्वास प्रकट किया जाता है, वरन् उनके व्यवहार की घोर निन्दा भी की जाती है। आधुनिक विद्वान् पौराणिक कथाओं एवं चरित्रों का उदात्त रूप स्वीकार कर उनका प्रतीकात्मक अर्थ ढूंढ़ने का प्रयत्न किया करते हैं। किन्तु कबीर ऐसे दृष्टिकोण से बहुत दूर हैं। वे पुराणों को, स्थूल अभिधार्थ में समझते हैं, जिनके पात्रों का व्यवहार कभी श्लाध्य और कभी निंद्य भी होता है। अतः यह बात ध्यान में रखना बहुत आवश्यक है कि कबीर का युग पुराण और इतिहास के बीच का अन्तर नहीं जानता था।

अवतार के मूल स्थल :—कबीर की समस्त विचार-धारा में यद्यपि अवतार-वाद के प्रत्यक्ष खंडन एकाध मिलते हैं, तथापि अवतारवाद का सैद्धांतिक विरोध

सर्वत्र उपलब्ध है। उनके सिद्धांत में अवतार सर्वथा अनावश्यक है। इसका मुख्य कारण यह है कि अवतारों के जो परंपरागत उद्देश्य बताये जाते हैं, वे अवतारों के विना ही प्राप्त हो सकते हैं। अवतार भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं, यथा, पशु-योनि, मिश्रितयोनि, मानवयोनि, गुणावतार, लीलावतार, भिन्न-भिन्न कालों में भिन्न-भिन्न संप्रदायों में प्रतिपादित किये गये हैं। इन समस्त भूमिकाओं में अवतार जो कुछ निभाते हैं, यह सब कबीर के राम से पूरा किया जाता है।

अवतार के दो परंपरागत उद्देश्य बताये जाते हैं। गीताकार कृष्ण के अवतार का यह उद्देश्य बताते हैं :—

परित्राणाय साधूनाम् विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे-युगे॥

कबीर के विचार में यद्यपि दुराचारियों की दयनीय स्थिति कभी-कभी वर्णित की जाती है, फिर भी परमसत्ता के द्वारा उनके सर्वनाश का उल्लेख नहीं पाया जाता। कबीर इतना ही कहते हैं कि वे तब तक साँसारिक दुःख में फंसे रहेंगे जब तक वे राम-भक्ति के द्वारा छुटकारा न पा जाएं। वे नन्द ही के समान "लख चौरासी जीव जोनि महिं भ्रमत भ्रमत" रहते हैं। (क० ग्र० पद १५४) दुराचारियों का कबीर इतना ही दंड बताते हैं। जहाँ तक भले मनुष्यों की मुक्ति है, यह राम से प्रदान की जाती है। और न केवल भले लोगों को, वरन्,

अजामेल गज गनिका पतित करम कीन्हें।
तेऊ उतरि पारि गए राम नाम लीन्हें॥

इस प्रसंग को कबीर ने पुराणों से सुना होगा। अन्तर यह है कि यहाँ उद्धारक की भूमिका में हैं, कबीर के निर्गुण राम। जिस अर्थ में गीताकार "धर्म-संस्थापनार्थाय" समझता था, वह कवीर को स्वीकार्य नही था। गीता में धर्म, वर्णाश्रम-धर्म का अर्थ रखता है, और यह प्रसिद्ध है कि कबीर वर्णाश्रम व्यवस्था को नहीं मानते थे। गीता के अनुसार, "मया सृष्टं" (४,१३) अर्थात् वर्णाश्रित व्यवस्था के रचयिता स्वयं भगवान् हैं। "यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति", मभी भगवान्

अवतरित होते हैं। श्रुति और स्मृति में विहित वर्णाश्रम धर्म के सम्बन्ध में कबीर का विचार उनके क ग्र र पद ६ के अनुसार यह स्पष्ट है कि कबीर की विचार-धारा में गीता में वर्णित अवतार के लिए अवसर नहीं है।

अवतारवाद का उपरोक्त उद्देश्य समस्त भागवत-धर्म में गौण प्रतीत होता है। इससे अधिक विस्तृत परिभाषा श्रीमद्भागवत में पायी जाती है :—

नृणां निःश्रेयस्यार्थाय व्यक्तिर्भगवतो, नृप।
अव्ययस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः ॥

इस परिभाषा में यह सरलतापूर्वक देखा जा सकता है कि यह दृष्टिकोण अधिक उदार और भक्ति-भावना के अधिक अनुकूल भी है। यहां यह व्यक्त किया गया है कि मानवों को साधना-निरपेक्ष मुक्तिदान ही भगवान् के प्राकट्य का प्रत्यक्ष प्रयोजन है। फिर भी, इस दृष्टिकोण से भी कबीर की आपत्ति है क्योंकि श्रीमद्भागवत से प्रतिपादित अवतार का उद्देश्य निर्गुण राम की भक्ति के द्वारा प्राप्त हो सकता है; अतः अवतार उद्देश्यहीन है। कबीर कहते हैं कि "चारि बेद अरु सुंम्रित पुरानां" सब भ्रम में पड़े हुए हैं क्योंकि उन्होंने "चरन कमल" नहीं जाना; और,

कहै कबीर सो भरमैं नांहीं, निज जन बैठै हरि की छाँहीं।

कबीर समझते थे कि भगवान् का अवतरित होना, और योनि में पड़ना एक ही बात है। योनि-योनि में भ्रमण करना बड़े दुर्भाग्य की बात है और भगवान् इस दुर्भाग्य का पात्र नहीं हो सकते। कबीर कहते है कि कृष्ण के पालक पिता, नंद, चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करते करते बड़े अभागे थे : —

लख चौरासी जीव जोनि महिं भ्रमत भ्रमत नंद थाकौ रे।
भगति हेतु औतार लियो है भागु बड़ो बपुरा कौ रे।।
जनमैं मरै न संकटि आवै नांव निरंजन जाकौ रे।
दास कबीर कौ ठाकुर ग्रैसौ जाकौ माई न बापौ रे ॥

इस पद को दूसरी पंक्ति में तीक्ष्ण व्यंग्य है। इस पंक्ति का आशय यह प्रतीत होता है कि कबीर उस विचार की खिल्ली उड़ा रहे हैं जिसके अनुसार नंद का घर

भगवान् का निवास हो सके। जिसका नाम निरंजन है वह न जन्मता, न मरता निदान यह है कि न गीता में और न श्रीमद्‌भागवत में प्रतिपादित अवतारवाद का उद्देश्य कबीर के विचारों के अनुकूल सिद्ध होता है, क्योंकि उनकी भक्ति साधना अवतारवाद से सर्वथा परे है।

श्रीमद्‌भागवत आदि ग्रंथों में अवतारों की अनेक सूचियां, और अवतारवाद के विभिन्न विवेचन मिलते हैं। मध्यकालीन साम्प्रदायिक साहित्य के अधिक स्वच्छंदता के साथ अवतारों की कल्पना की गयी। प्राचीन साहित्य के पाशवाकार अवतारों, यथा कूर्म, मत्स्य और बराह, का कबीर के काव्य में, वराहावतार के एक संक्षिप्त खंडन के अतिरिक्त, (क० ग्र० र० ३) उल्लेख नहीं पाया जाता, यद्यपि वे राम कथा में हनुमान के कार्य-कलाप को जानते थे। नृसिंह जैसे मिश्रित अवतार का भी उल्लेख है।(क० ग्र० पद २६) पुरुषाकार अवतारों का तो कबीर ग्रंथावली में बार बार उल्लेख है। वही परम पुरुष भक्ति के हेतु नृसिंह के रूप में प्रकट हुए, कबीर यह तथ्य अस्वीकार नहीं करते। क० ग्र० पद २६) किंतु ये पौराणिक प्रक्रियाएं शाश्वत मुक्ति प्रदान नहीं कर सकतीं :—

कहै कबीर कोई लहै न पार।
प्रहलाद उधारे अनिक बार।। (वही)

पौराणिक अवतारवाद पर यह कबीर का अन्तिम निर्णय प्रतीत होता है : प्रह्लाद की कथा भक्ति का उत्तम उदाहरण तो प्रदान करती है, किन्तु नृसिंह से प्रह्लाद को मुक्ति मिली, यह कबीर को स्वीकार्य नहीं। वे तो प्रहलाद को ज्ञानहीनों में गिनते हैं :—

सनक सनंदन जै देउ नांमां।
भगति करी मन उनहुं न जांना।।
सिव विरंचि नारद मुनि ग्यांनीं।
मन की गति उनहूँ नहीं जानी।।
धू प्रहलाद विभीखन सेखा।
तन भीतर मन उनहूँ न पेखा।।

जब भूमा परुष प्रकृति के गुणों को श्रीविग्रह बनाकर आविर्भूत होता है, तो

अवतारवाद के अनुसार, ब्रह्मा, विष्णु, महेश अवतरित होते हैं और उनके द्वारा, उत्पत्ति, स्थिति, लय, सृष्टि के तीनों चरण संचालित किये जाते हैं। त्रिमूर्तियों के ये कार्य, चाहे जो भी हों, कबीर उन्हे मुक्ति दिलाने के लिए, कोई लोकोत्तर मूल्य प्रदान नहीं करते। जिस लोकोत्तर स्तर पर कबीर के आराध्य राम स्थित हैं, उसी स्तर तक साधु-सन्तों को पहुंचाने के लिए पुरुषावतार और लीलावतार यथार्थ सहायता नहीं दे सकते :—

जहं सतगुर खेलत रितु बसंत।
परम जोति जहं साध संत ॥ टेक ॥

कोटि क्रिस्न जहं जोरैं हाथ। कोटि बिस्नु जहं नावैं नाथ।।
कोटि ब्रह्मा पढै पुरांन। कोटि महेस जहं धरैं ध्यान।।
कोटि सरसती धारैं राग। कोटि इन्द्र जहं गगन लाग।।

ये सभी देवता स्पष्टतः कबीर के सतगुर की श्रेणी के नहीं हैं।

अवतारवाद का खंडन :—मुक्ति दिलाने के लिए अवतारों की साधकता पर आक्षेप करते समय कबीर अवतार-अवतार के भेदों को नहीं मानते। उनके लिए सभी अवतार, समान रूप से, अविश्वसनीय हैं :—

सिव सनकादि ब्रह्मादिक, सेस सहस मुख जोई।
जिन जिन देह धरी त्रिभुवन में थिर न रहा है कोई।।

जो जो देवता माया महा ठगिनि से स्वंय फंसे हुए हैं, वे दूसरों को बचाने में असमर्थ हैं :—

केसव के कंवला होइ बैठी सिव के भवन भवानी। (क० ग्र० पद १६३)

यह कबीर के गले में नहीं उतरता कि जो अगम और अगोचर हैं वह अपनी परम अवस्था को छोड़कर भूलोक पर लीलादि के निमित्त अवतरित हो जाए। दशरथ के घर राम जन्में तो, किन्तु वे कबीर के राम नहीं हैं :—

नां दशरथ धारि औतारि आवा।
नां लंका का राब सतावा।।

देवै कोखि न अवतरि आवा ।
ना जसवै लै गोद खिलावा ।।
नां वो ग्वालन कै संगि फिराया ।
गोवरधन लै नां कर धरिया ।।
बावन होइ नहीं बलि छलिया ।
धरनीं वेद लै न ऊधरिया ।।
गंडक सालिगरांम न कोला ।
मच्छ कच्छ होइ जलहि न डोला ।।
बद्री बैसि ध्यांन नहीं लावा ।
परसरांम ह्वै खत्री न सताबा ।।
द्वारावती सरीर न छांड़ा ।
जगन्नाथ लै पिंड न गाड़ा ।।

अवतारवाद पर कबीर की मूलभूत आपत्ति यह है कि 'अगम राम' ऐसे ऐहिक कर्मों के कर्त्ता नहीं हो सकते । यह कल्पना तब और अधिक घृणित है जब कबीर की दृष्टि में श्री कृष्ण के कुछ कर्म नैतिक दृष्टि से निंदनीय भी हैं :—

साधो, करता करम तैं न्यारा ।
आवै न जाइ मरै नहिं जनमैं ताका करो बिचारा ।।

* * * *

रांम को पिता जो दसरथ कहिअै दसरथ कौनैं जाया ।।
दसरथ पिता रांम को दादा कहौ कहां तैं आया ।।
राध रुकमिनि क्रिसन की रांनी क्रिसन दोऊ का मीरा ।।
सोरह सहस गोपी उन भोगीं बह भयौ कांम कौ कीरा ।।
बसदेव पिता देवकी माता नंद महर घरि आया ।।
कहै कबीर करता नहिं होई जो करमां हाथि बिकाया ।।

इस पद में एक और बात ध्यान देने योग्य है । कबीर परम आराध्य राम के कर्त्तृत्व को पूर्णतया अस्वीकार नहीं करते; कबीर राम को सृष्टिकर्त्ता मानते हैं ।

फिर भी, इस पद में कबीर का मत है कि सृष्टिकर्ता का साँसारिक कर्मों को करना बुद्धिगम्य नहीं है ।

कबीर की मूर्ति-पूजा की कड़ी आलोचना इस निबंध की सीमाओं से बाहर है; फिर भी अर्चावतार के प्रति कबीर के विचार का उल्लेख किये बिना यह अध्ययन अधूरा प्रतीत होगा । रमैनी पद ३ में कहा गया है कि अगम राम "गंडक सालिगराम न कोला" ।

अन्यत्र भी यह खंडन स्पष्ट है :—

पाहन केरा पूतरा, करि पूजै करतार ।
इही भरोसे जे रहे, ते बूड़े काली धार ।

अथवा :—

सेवै सालिगराम कौं, मन की भ्राँति न जाइ ।

एक सरस पद में कबीर 'मूरति निरजीउ' की पूजा करने वालों का उपहास करते हैं :—

जिसु मूरति कौं पाती तोरै सो मूरति निरजीउ ।।
टांचन हारै टांचिया दै छाती ऊपरि पाउ ।
जे तूं मूरति सांचि है तौ गढ़नहारै खाउ ।।
लाडू लावन लापसी पूजा चढ़ै अपार ।
पूजि पुजारा लै गया दै मूरति कै मुहिं छार ।।

पांचरात्र के मतानुसार चार प्रकार के अवतारों में एक अंतर्यामी कहलाता है । राम का 'अंतर्यामी' नाम कबीर को प्रिय है ।

पिया मोरा मिलिया सत्त गियानीं ।
सब में व्यापक सब की जानैं अैसा अंतरजामी ।।

आराध्य राम मनुष्य के बाहर ही नहीं, वरन् उसके भीतर भी पाये जाते हैं, यह कबीर की भक्ति-साधना की आधार-शिला है ।

कस्तूरी कुंडलि बसै, म्रिग ढूंढ़े बन मांहिं।
अैसे घटि घटि राँम है, दुनिया देखै नांहिं॥
ज्यौं नैंननि मैं पूतरी, त्यौं खालिक घट मांहि॥
मूरिख लोग न जांनहीं, बाहरि ढूंढ़न जांहि॥

यहां यह पूछना असंगत नहीं, कि क्या कबीर ने अवतारवाद के अंतर्यामी को स्वीकार किया। पौराणिक नामों का प्रयोग इस अनुमान को प्रोत्साहन देता प्रतीत होता है कि कबीर के मन में पाँचरात्र मत का अंतर्यामी भाव प्रमुख है। किंतु यदि सूक्ष्मता से देखा जाए तो पौराणिक नामों के प्रयोग से कोई परिणाम नहीं निकाला जा सकता। कबीर साम्प्रदायिक देवताओं की अंतर्यामिता को निष्प्रयोजन बताते हैं। कोई कहेगा कि मेरी जिह्वा पर भगवान् विष्णु का निवास है; और कोई कहेगा मेरी आँखों में नारायण का है; फिर कोई कहेगा कि मेरे हृदय में गोबिंद बसते हैं:—

मेरी जिभ्या बिस्नु नैंन नाराइन हिरदै बसहि गोबिंदा।
जम दुवार जब लेखा मांगै तब का कहसि मुकुंदा।

समस्त पद जातीय एवं साम्प्रदायिक विचारों का खंडन है जिससे यह निष्कर्ष निकलता है कि वैष्णव मत का अंतर्यामी सिद्धांत, अपने सांप्रदायिक अर्थ में कबीर को ग्राह्य नहीं था। इसके होते हुए भी वे अविगत और अपरंपार ब्रह्म के लिए स्वच्छन्द रूप से पौराणिक अभिधानों का प्रयोग करते हैं, परन्तु उन नामों का अभिधार्थ समझना भ्रमात्मक होगा। यह दूसरी बात है कि सगुण भक्ति के कवि अपने अभ्यंतर में स्थित अंतर्यामी प्रभु की आराधना करते हैं। गोस्वामी तुलसीदास जब यह कहते हैं कि,

अवधेस के बालक चारि सदा।
तुलसी मन मन्दिर में बिहरैं॥

तो वे अवतारवाद के अंतर्यामी देवता की अभिव्यक्ति करते हैं; किंतु भक्त हृदय में साकार राम का निवास कबीर की विचार धारा के प्रतिकूल है।

क्या कबीर ने अवतारवाद को समझा? इसमें कोई संदेह नहीं कि अवतारवाद के प्रति कबीर का मनोभाव अटल विरोध का है। फिर भी, जब हम

कबीर की कट्टर खंडनात्मक उक्तियां पढ़ते हैं तब हमारे मन में यह आशंका सम्भव हो सकती है कि वे कदाचित् हठ के कारण सत्यासत्य का यथोचित विवेक किये बिना अवतारवाद के विरोध पर डटे रहते हों। कबीर के इस हठ को सहानुभूतिपूर्वक समझने के लिए उनके युग और परिस्थितियों को विशेष रूप से समझना आवश्यक है। कबीर पर इसलाम का प्रभाव नगण्य नहीं था, और संभवतः इसलामी संस्कारों के कारण ही वे अवतार विरोधी पूर्वग्रह लेकर जन्मे थे। उन्होंने नाथों और सिद्धों से साधना विधान ग्रहण किया, जो अवतार विरोधी था और इसी साधना के द्वारा उन्होंने अद्वैत-तत्व का अनुभव किया। कबीर पर रामानंद का प्रभाव किस मात्रा में पड़ा था यह नहीं कहा जा सकता। जो हो, अपने अपने शिष्यों को प्रदान किया गया रामानंद का रिक्थ अवतार विरोधी नहीं था। अतएव, रामानंद की अपेक्षा सिद्धों और नाथों का प्रभाव प्रमुख था। इसके साथ यह भी स्मरण रखना पड़ता है कि कबीर का युग धार्मिक उथल-पुथल और सांप्रदायिक कट्टरता के लिए प्रसिद्ध था, और इसका काफी प्रमाण भी उपलब्ध है कि उस युग में कुछ उच्च आदर्शों का पतन हो गया था। अतः यह कोई आश्चर्य नहीं कि कबीर के युग में जिस अवतार धारणा के संपर्क में वे आये, वह अवतारवाद का भ्रष्ट रूप था। जनमानस पौराणिक धर्म के स्थूल रूप एवं मूर्तिपूजा से संबंधित बाह्याडंबर से हुआ था। इस ह्रासोन्मुख अवस्था को निरावरण करके लोगों का ध्यान शुद्ध राम भक्ति की ओर ले खींचना कबीर का सतत प्रयत्न रहा। इस कारण अवतारवाद के प्रति उदार और सहानुभूति पूर्ण दृष्टिकोण अपनाने की कबीर में कभी प्रवणता नहीं हुई। अवतारवाद का जो रूप कबीर ने पाया, और जिसका उन्होंने निरूपण किया उसे उन्होंने अस्वीकार किया, और ठीक ही। किन्तु उनका ध्यान अवतारवाद के शुद्ध एवं परिष्कृत रूप पर कभी नहीं गया, ऐसा प्रतीत होता है।

उन्होंने ब्रह्म की त्रिगुणात्मक कल्पना को अग्राह्य बताया। वे कदाचित् यह नहीं जानते थे रामानुजाचार्य के अनुसार अवतार प्राकृतिक नहीं है। (दे० श्रीभाष्य १. १. २१: और Dr. Krishnadatta Bharadwaj, The Philosophy Ramanuj, P. 154) रामानुज ने श्रीमद्भागवत के अवतारभाव का परिशोधन करके ही उसे अपनाया था। शंकराचार्य ने भी अपने अनभ्य अद्वैत के होते हुए अवतारवाद को पूर्णतया अस्वीकार नहीं किया। (दे० ब्रह्म सूत्र शंकरभाष्यम्, २. २. ४२; Bharadwaj, op. cit PP.158-162) उन्होंने अवतार के स्थूल, शरीरी रूप को असंगत बताया किन्तु 'देह इव' का धारण करना

स्वीकार्य है:—

ईश्वरो नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभावोऽपि सन्
स्वमायया देहवानिव जात इव च लोकानुग्रहं
कुर्वन्निव च लक्ष्यते। (गीतायां शांकरभाष्योपोद्घातः उद्धृत Bharadwaj, op. cit., P. 158) अवतारों के प्रति यह परिशुद्ध रूप तथ्यतः तुलसीदास ने अपनाया। (दे० रामचरितमानस, कि० का० २६; बालकाण्ड, ११६; उत्तरकाण्ड ७०) उन्होंने भी ब्रह्म की अखंड एकता और अवतारवाद के बीच संतोषजनक सामंजस्य स्थापित किया। बहुत संभव है कि कबीर को अवतारवाद की बारीकियों का ज्ञान कभी प्राप्त नहीं हुआ। यदि वे अवतारवाद का परिष्कृत ज्ञान प्राप्त करते, तो, हो सकता है कि उनकी मनोवृत्ति दूसरी ही होती।



संगीत का विज्ञान

ग्रानन्द*

जीवन के ग्रधिकतम चैतन्य काल में हम ध्वनियों के संसार से घिरे रहते। ध्वनियों की विभिन्नता एवं स्वरूप से हमें कई बार इतने विचित्र ग्रनुभव व संवेदन होते हैं कि संवेदी ग्रंग तो क्या हमारी ग्रात्मा तक उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रहती। वास्तव में जो भी स्वर या नाद हम सुनते हैं उनमें से प्रत्येक का ग्रपना एक महत्व होता है जिस प्रकार इन्द्र धनुष के सात रंगों का।

यूं तो ध्वनियों की विभिन्नता बड़ी विस्तृत है परन्तु साधारण रूप से वैज्ञानिकों ने ध्वनियों को दो मुख्य प्रकारों में वर्गीकृत कर रखा है। पहला कोलाहल, जिसमें किसी भी स्वर का कोई क्रम नहीं होता, एक के बाद एक स्वर ग्रनियमितता के साथ ग्राते चले जाते हैं। दूसरा संगीतमय, जिसमें तरंगों के बढाव घटाव का एक बहुत ही निश्चित क्रम होता है। जिसके सुनने से कान में होने वाले संवेदन इतने मधुर व क्रमबद्ध होते हैं कि भावनात्मक-चेतना हुए बिना नहीं रहती। इन ध्वनियों के ग्रलावा कुछ ऐसी तरंगें भी होती हैं जिनको हम कान से साधारण रूप में ग्रहण नहीं कर सकते। इनको हम ग्राल्ट्रासोनिक वेव या ग्रतिशूक्ष्म ध्वनि तरंग के नाम से जान सकते हैं। ग्राश्चर्य ग्रौर प्रकृति के गहन विस्तार की बात है कि जिन तरंगों को हम ग्रब जान पाये हैं वे तरंगें रात में उड़ने वाले चमगादड़ के पास सदियों से था। जिनका प्रयोग वह ग्रनादिकाल से गहन ग्रंधकार में उड़ने के लिये करता ग्रा रहा है।

---

*संगीत - साहित्य ग्रध्येता।

जैसा कि हम जानते हैं कि प्रत्येक ध्वनि का हमारे ऊपर एक विशेष प्रभाव होता है उसी से सम्बन्धित मैं यह कहना भी अनुचित नहीं समझूंगा कि ध्वनियों में कुछ इतनी विदारक होती हैं कि मन द्रवित होता है, कुछ ऐसी भी ध्वनियाँ होती हैं जिनके सुनने से भय व आतंक का प्रभाव मन पर छा जाता है जैसे शेर की दहाड़, साँप की फुफकार, बादल की गड़गड़ाहट आदि आदि। लेकिन वास्तव में यदि देखा जाय तो हम ध्वनि से नहीं डरते या प्रभावित होते वरन् उससे उत्पन्न उस वातावरण से होते हैं जो ध्वनि के माध्यम से तैयार किया जाता है। ठीक उसी प्रकार जैसे एक अबोध बालक अपने पिता की गुर्राहट व तीव्रता सुन कर डर और सहम जाता है अपने पिता के उस रूप की कल्पना करके जो किसी भी खूंखार जानवर जैसा होता है। अन्यथा वह अपने पिता से प्रेम तो करता ही है। दूसरी ओर सैनिक का उदाहरण भी बहुत उपयुक्त है। युद्ध के नगाड़ों व वाद्ययन्त्रों से जो ध्वनि निकलती है उससे उसे आभास होता है कि कहीं दूर तोडफोड़ की जा रही है। दुन्दुभियां बजती हैं तो उसे लगता है कि किसी का अंतिम चीत्कार आकाश में गूंज गया है। बस इसी शोध-प्रतिशोध में भरा हुआ, मानव मात्र की मनोवैज्ञानिक रिक्तता को भर देता है या उसके भरने के लिए उद्यत हो जाता है। इसी प्रकार और भी कई उदाहरण दिये जा सकते हैं और इसका निर्णय किया जा सकता है कि "ध्वनि एक सर्वसफल माध्यम" है जो हमारे लिए किसी भी प्रकार का भावनात्मक क्षेत्र तैयार कर सकती है।

अब ध्वनि का दूसरा पक्ष भी देखिये :—ध्वनि कैसे आगे बढती है अपने स्रोत से किस प्रकार हमारे कान तक पहुंचती है ? यह कोई कठिन बात नहीं। इसकी तुलना आप एक तालाब से कर सकते हैं जिसमें एक पत्थर मार कर तरंगे पैदा कर दी गई हैं। जिस प्रकार तरंगे स्रोत से उठ कर एक के बाद दूसरी को धकेलती किनारे पर पहुँच जाती हैं उसी प्रकार ध्वनि अपने स्थान से उठ कर वायु के टुकड़ों को धकेलती उनमें कम्पन पैदा करती वृत्ताकार रूप में हमारे कान तक पहुँच जाती है। इसका अर्थ यह हुआ कि बिना हवा के माध्यम के ध्वनि नहीं चल सकती, एक स्थान से दूसरे स्थान पर नहीं पहुंच सकती। हर तरंग की अपनी एक सीमा होती है जिसके अनुसार वह वायु को दबाती है। आकाश में फटने वाला गोला हमारे घरों की खिड़कियों के शीशे आराम से तोड़ सकता है। कारण ! कि वह सारे वायुमंडल को जो उसके प्रभाव में होता है अचानक इतने दाब से धकेलता

है कि उसके बीच वाली वस्तु अपनी क्षमतानुसार क्षतिग्रस्त हो जाती है।

आज हम ध्वनियों से इतने बौखलाए रहते हैं कि सही प्रकार के संवेदनों का रसास्वादन करने के लिए हम कभी रेडियो सुनते हैं, कभी सिनेमा घरों की ओर दौड़ते हैं या उनको पसन्द करते हैं।

प्राचीन काल में ध्वनि का अध्ययन बड़े महत्वपूर्ण ढंग से किया गया था जिसका विस्तार और नेतृत्व श्री कृष्ण की बाँसुरी ने किया था या तानसेन जैसे वैज्ञानिक के मधुर कण्ठ ने। सत्य-रूप में मंत्र-विद्या भी एक ऐसी विद्या है जिसके द्वारा हम किसी भी तरह की तरंग उत्पन्न करके वातावरण या सम्पर्क को प्रभावित कर सकते हैं। या इस बात को इस रूप में भी कहा जा सकता है कि श्री कृष्ण व तानसेन जैसे विद्वान् उस कला को सफलता पूर्वक निबाहते थे। वे जानते थे स्वरों के, तरंगों के किस सम्मेलन व समागम से पशुओं को आकर्षित किया जा सकता है, वायुमंडल का दबाव कम करके आर्द्रता को वर्षा का रूप दिया जा सकता है। दीपक राग तो जिसके बारे में लोकमत है कि तानसेन जब उसे गाता था तो दीपक जला देता था लेकिन उसका यह रूप तो एक साधारण रूप है। वास्तव में तानसेन उस राग में उन स्वरों का ठीक प्रयोग करता था कि जिनके सुनने से कुछ विशेष नाडियों का संवेदन इतना तीव्र हो जाता था कि शरीर में होने वाली क्रियाएं तीव्रता से होती थीं और शरीर में अधिक ऊष्मा की उत्पत्ति हो जाती थी। जिसके कारण स्वेदन क्रिया होने लगती थी परन्तु यदि गायक पसीने को बाहर न आने दे तो वह जल फफोलों के रूप में उसके शरीर को झुलसा सकता है। इसके लिए अभ्यास, योग व साधना की आवश्यकता है परन्तु यह असम्भव नहीं है।

आज हम सभी जानते हैं कि पाश्चात्य संगीत हम पर कितना प्रभुत्व कर चुका है। परन्तु यह संस्कृति इतनी सरल व छोटी है कि हम इससे बहुत जल्दी ऊब जाते हैं और अधिक समय तक सहन नहीं कर सकते। मेरा यह तात्पर्य नहीं है कि यह संगीत निरर्थक है। परन्तु इतना आवश्यक है कि उनके साजों में यदि हम अपनी भारतीय आत्मा फूंक दें तो हमें उनके उथलेपन को समाप्त करने का 'श्रेय' मिल सकता है।

कई बार यह प्रश्न मस्तिष्क में आता है कि हमारा उद्देश्य संगीत से मनोरंजन ही क्यों है ? क्या इसको विज्ञान एवं चिकित्सा के रूप में नहीं अपना सकते ? प्राचीन काल में तो हमारे पूर्वजों ने नवजात के जन्म के समय काँसे की घनघनाहट से ये सिद्ध कर दिया था कि इसके प्रयोग से माता को प्रसव में कम पीडा होती हैं,* मंदिर की छोटी सी घंटी से मन को नूतनता का आभास होता है ! फिर आज हम क्यों मनोरंजन करने में भी कई बार असफल हो जाते हैं, उत्तर मिलता है। स्वरभंजन यानी हमारे स्वर बिखर गये, हम भटक गये और यदि यह कहूँ कि स्वरसागर छोड़ कर हम दूर बनावट से सजायी बस्तियों में आकर बस गये, तो गलत न होगा।

प्राचीन संगीत ज्ञाताओं ने स्वरों को ऋतु के अनुसार बांटा था स्वरों का प्रभाव देखकर। हमारे भारतीय साहित्य में ६ राग मुख्य माने जाते हैं जिनको छः ऋतुओं के अनुसार गाया जाता है। इन रागों में जिन स्वरों की प्राथमिकता या प्रभाव शालीनता रहती हैं वे ही उसका स्वरूप बनाते हैं।

संगीत में मुख्यतः हम सात स्वर मानते हैं जिनके अलग-अलग तरंग धैर्य होते हैं और जिनके आधार पर वे सातों स्वर षड्ज, रिषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत एवं निषाद के रूप में एक दूसरे से अलग किये जाते हैं। हाथी के स्वर को षड्ज व पपीहे के स्वर को निषाद का सही स्वरूप माना जाता है। परन्तु विश्लेषण करने पर पता चलता है कि स्वर सात न होकर २२ हैं अर्थात षड्ज से चल कर हमें २१ बार नाद का स्वरूप बदलना पड़ता है तब हम निषाद पर पहुंचते हैं अपनी सुविधा के लिए हमने मुख्य १ को चुन लिया और शेष स्वरों को श्रुति कहने लगे इस प्रकार ७ स्वर तथा १५ श्रुतियां होती हैं। जो कलाकार जितनी अधिक श्रुतियों का प्रयोग कर सकता है उसको उतना ही विद्वान् समझा जाता है। सा की (४) रे की (३), ग की (२), म की (४), प की (४), ध की (३), नि की (२) श्रुतियाँ होती हैं यानी सा को सा रहता हुआ ४ प्रकार से लगाया जा सकता है और इसी प्रकार दूसरे स्वर भी।

स्वर की रूप रेखा व उसका चलन ध्यान में रखते हुए प्राचीन संगीतज्ञों ने ये मुख्य ६ राग हमारी ऋतुओं को सौंपे थे। इन रागों में जो स्वर प्रधान रूप से

*कांसा और लौहा—विद्युत् क्षमता के लिए अधिक उपयुक्त है।

लगाये जाते हैं वे समय के अनुसार अपना एक विशेष महत्त्व रखते हैं।

राग	ऋतु	समय	मुख्य स्वर	उपयोग व महत्ता
श्री	जनवरी, फरवरी	प्रातःकाल	सा, पा, रे, ध,	वस्तु परिवर्तन (परमाणु-स्पन्दन)
बसंत	मार्च, अप्रैल	प्रातःकल	सा वादी, पा संवादी	संवेदन तीव्र करता है (मस्तिष्क व हृदय रोग के उपचार के लिए)
दीपक राग	मई, जून	प्रात. व दोपहर	सा, पा, संपूर्ण	गर्मी उत्पन्न करना (सर्व रोगों का उपचार)
मेघ राग	जुलाई, अगस्त	सायंकाल	मा, सा, सम्पूर्ण	वर्षा प्रभाव दूर करता है (वायु रोग)
मालकौंस	सितम्बर, अक्तूबर	रात्रि का अंतिम पहर	सा, मा, ओढव जाति	पत्थर विचलित व पिघल जाते हैं (हृदय रोग)
भैरव	नवम्बर दिसम्बर	सायंकाल	रे, ध	सर्दी से होने वाले रोग दूर करता है।

उपर्युक्त राग ही समस्त भारतीय संगीत-सागर का आधार स्रोत है। यदि इन रागो में स्वर का स्थान सही प्रकार से लगाया जाए तो प्रभाव बिना हुए नहीं रहता। ठीक उसी प्रकार जैसे कामोद राग को गाने से मोर आकृष्ट हो जाते हैं। वायलन पर धुन बजाने से मछलियों को आकर्षित किया गया यह समाचार तो समाचार पत्रों में आपने पढ़ा ही होगा। कृष्ण की बाँसुरी के प्रभाव से गउएं आ जाया करती थीं। गोपियों का सम्मोहन हो जाया करता था उसी प्रकार यदि रागों का सही आध्यात्मिक उपयोग किया जाय तो आज भी भूत व भविष्य को वर्तमान के रूप में देखा जा सकता है परन्तु इसके लिए अथक परिश्रम, विश्वास, एवं साधना की आवश्यकता है। वरन् यह सब असम्भव नहीं है।

अब इस संगीत का दूसरा पक्ष फिर देखिये किस प्रकार एक एक स्वर का सन्तुलन शरीर से जुड़ा है। जिस प्रकार वैज्ञानिक-रूप में हमारा शरीर बना हुआ है, जुड़ा हुआ है उसी प्रकार के अनुशासन से संगीत की एक एक कड़ी जुड़ी है। जैसा कि मैंने पहले भी बताया है कि कुल २२ श्रुतियां हैं और दूसरी ओर हमारे शरीर में बाइस जोड़े नाड़ियाँ रीढ से निकलती हैं जो शरीर के मुख्य अंगों का नियंत्रण करते हैं। ये नाड़ियां अपना अपना एक कार्य करती हैं। अलग अलग क्षमताओं में बंध कर इन नाड़ियों का विद्युतावेश अलग अलग होता है जो सभी के भिन्न भिन्न संवेदनों को नियंत्रित करता है। २२ श्रुतियाँ एक एक नाडी के विद्युतावेश के साथ पूर्ण संगम रखती हैं। इसी आधार पर यह कहा जा सकता है कि यदि श्रुतियों का सही प्रयोग किया जाय तो उन अंगों का असन्तुलन सन्तुलन में लाया जा सकता है और उसमें उत्पन्न विकार को दूर किया जा सकता है। Vagus नाड़ी सर्व मुख्य नाड़ी है। जो अन्दर के लगभग सभी अंगों का नियंत्रण करती है। शरीर एक रासायनिक क्रियाओं के परिणाम स्वरूप चलने वाली एक जीवित मशीन है इसमें सभी क्रियाएं रासायनिक सन्तुलन में रह कर ऊर्जा का आदान प्रदान करती हैं और दैविक शक्ति को जन्म देती हैं फिर प्रत्येक आंतरिक अंग एक नाड़ी विशेष से सम्बन्धित होता है। जो उस अंग में होने वाली सभी क्रियाओं को मस्तिष्क से संबन्धित रखती है। इसलिए क्रियाओं का नियंत्रण नाड़ियों के संरक्षण में ही होता है। जिसको नाड़ियों को संवेदन देकर सुसन्तुलित किया जा सकता है।

अन्त में मैं यही कहूँगा कि हमारे उच्चकोटि के संगीतज्ञों ने भी अपनी कला को कला ही बना कर रक्खा या तो प्रसिद्धि के लिये या धन के लिये। यदि वे मानव कल्याण की दिशा में त्याग, साधना व गाम्भीर्य से परिश्रम करते तो उन्हें चमत्कारिक परिणाम अवश्य मिलते। इसके बाद मेरा सभी संगीतज्ञों से अनुरोध है कि वे भारतीय संगीत समुद्र के जल को पूर्णरूपेण स्वीकारें और उसे मानव कल्याण के लिए उपयुक्त बनाएं। जो प्रभावपूर्ण विज्ञान संगीत में अभी सुषुप्त अवस्था में पड़ा है उसे जगायें। यह कठिन तो है परन्तु असम्भव नहीं। धन्यवाद



रत्नों का परिवेश

प्रेमस्वरूप सकलानी*

रत्नों का झिलमिलाता प्रस्फुटन प्राय: सभी को भाता है।इन्हें सुंदर व शुभ दोनों ही समझा जाता है। अनेक व्यक्ति अपनी राशि के अनुकूल रत्नों को पहनते हैं। सोने चांदी के गहनों में रत्न बहुत सुंदर लगते हैं। राजा महाराजा व महारानियों के मुकुट और सिंहासन विभिन्न रत्नों से जड़े होते थे। रत्नों के प्रति लगभग सभी लोग रुचि रखते हैं। रत्न-पत्थर दुर्लभ, कठोर एवं सुंदर होते हैं।

कुछ रत्न प्रारंभ में अलभ्य होने के कारण बहुमूल्य थे; यथा-स्फटिक (रॉक क्रिस्टल), जमुनिया (एमिथिस्ट) इत्यादि। ऐसे रत्नों की जब व्यापारिक-दृष्टि से खोज होने लगी तो प्रकृति में इनके प्रचुर भंडार मिलने लगे और साथ ही साथ इनका अवमूल्यन भी होता गया। फिर तो ये केवल मूल्यवान् रत्नों की कोटि में ही रह गये।

जवाहरातों की एक अन्य विशेषता है कठोरता। प्राय: रत्न कठोर होने के कारण चिरकाल तक खराब नहीं होते। रत्नों की कठोरता का एक स्वैच्छिक-स्केल होता है। इसके अनुसार हीरा (डायमण्ड) की कठोरता १०, नीलम (सैफायर) की ९, स्फटिक की ७ तथा टाल्क की १ निर्धारित हुई है। प्राय: यह देखा जाता है कि बहुमूल्य रत्नों की कठोरता ८ से १० तक होती है।

रत्नों का सौन्दर्य उनके रंग एवं चमक पर निर्भर होता है तथा रत्नों के तराशे जाने के ढंग से भी इनके सौन्दर्य में वृद्धि हो जाती है। प्रस्फुटन अथवा

---

*प्रोफेसर : भू विज्ञान विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय।

चमक का विशेष संबंध 'रिफ्रैक्टिव इंडैक्स' से होता है (अर्थात् प्रकाश की किरणों का रत्न में प्रवेश एवं निष्कासन होकर विभिन्न अनुपात में छितराना)। जिन रत्नों में प्रकाश की किरणों का छितराव अधिक होता है वे उतने ही प्रस्फुटित होते हैं। किरणों का यह स्वाभाविक छितराव हीरे में २.४ है जबकि साधारण कांच में यह १.५ है।

कुछ बहु चर्चित एवं प्रचलित रत्न है हीरा, नीलम, लाल, पन्ना, पुष्पराज इत्यादि।

हीरा (डायमण्ड) :

मध्य युग में हीरा सर्वप्रथम भारत में ही मिलता था। तत्पश्चात् ब्राजील दक्षिणी अमेरिका में सत्रहवीं-एवं किम्बरले-दक्षिणी अफ्रीका में उन्नीसवीं-शताब्दी में हीरे के कई भंडारों का पता लगा।

हीरा कार्बन का एक खनिज रूप है। कार्बन के कुछ अन्य खनिज हैं कोयला, ग्रेफाइट इत्यादि। प्राकृतिक खनिजों में हीरा सबसे कठोर होता है। सख्त चट्टान एवं सख्त पदार्थ को हीरा सहज ही काट लेता है। उत्कृष्ट हीरा हल्के नीले-सफेद रंग का होता है। हीरा रंग-रहित भी होता है। हीरे का आपेक्षिक घनत्व ३-५ होता है। निम्नकोटि के हीरे हल्के पीले और काले होते हैं।

भारत में अधिकांशतः हीरा नदियों द्वारा लाई गई रेत या कंकड़-पत्थर से बनी चट्टान में मिलता है, प्रारंभ में इसके उद्गम का ठीक पता नहीं लगता था, जब किम्बरले-दक्षिणी अफ्रीका में हीरे की खोज हुई तो यह पता चला कि हीरा फेल्सपार रहित बेसाल्ट (ज्वालामुखी) चट्टान में मिलता है, किम्बरले में विद्यमान इस चट्टान का नाम ही किम्बरलाइट पड़ गया, यह गाढ़े काले रंग की किम्बरलाइट प्रमुख रूप से मैगनीशियम तथा लोहे के खनिजों से बनी होती है, किम्बरलाइट चट्टान लगभग गोलाकार पाइप जैसी होती है।

साधारणतः धारणा यह है कि किम्बरलाइट आग्नेय चट्टान में कुछ अंश कार्बन का आ जाने पर उच्च दाब की विद्यमानता में कार्बन का परिवर्तन हीरे में हो जाता है। ऐसी किम्बरलाइट चट्टान से हीरा बहकर कंकड़-पत्थर से बनी चट्टान श्रेय (त्रैमासिक)

अथवा रेत में उपस्थित हो जाता है। किम्बरलाइट चट्टानों से संबद्ध हीरे बिजावर, मझगवान एवं पन्ना स्थानों पर मिलते हैं।

रेत में पाये जाने वाला हीरा महानदी, कृष्णा एवं गोदावरी नदियों की रेत में मिलता है। लाल-बलुआ पत्थर से बने विंध्याचल पहाड़ की चट्टानों के साथ चिकनी मिट्टी से बनी 'रीवा शेल' चट्टान के नीचे कंकड़-पत्थर से बनी चट्टानें हीरे-युक्त हैं।

नीलम (सैफायर) : लाल, याकूत, पद्मराग अथवा माणिक्य (रूबी): तथा स्पिनेल।

ये रत्न मुख्यतः एल्यूमिनियम आक्साइड के बने होते हैं। इनकी कठोरता ८-९ है। इनमें प्रकाश-किरणों का छितराव १.८ तथा इनका आपेक्षिक घनत्व ४ होता है।

नीले रंग का पुट नीलम में संभावित टाइटेनियम-तत्त्व की मिलावट के कारण होता है। नीलम की एक किस्म काली तथा तारे की चमक जैसी भी होती है। मुख्य रूप से नीलम एवं कुछ मात्रा में लाल किश्तवार-काश्मीर की जांसकार पहाड़ियों में मिलते हैं। इन पहाड़ियों में नीलम तथा लाल पेग्मेटाइट चट्टान अथवा इसमें विद्यमान फेलसपार खनिज से निर्मित चिकनी मिट्टी में मिलते हैं।

लाल तथा स्पिनेल आपस में काफी मिलते-जुलते हैं। ये दोनों रत्न मोगोक-बर्मा के चूना पत्थर में अच्छी मात्रा में मिलते हैं। चूना-पत्थर के साथ कायांतरित शिस्ट व नाइस चट्टान भी मिलती हैं।

नीलम, लाल व स्पिनेल लंका, श्याम इत्यादि देशों में भी पाये जाते हैं।

मरकत या पन्ना (एमरेल्ड) : बेरूज (एक्वामेरीन) : एवं वैदूर्यमणि (बेरिल)।

ये रत्न बेरिलियम, अल्यूमिनियम एवं सिलिका के आक्साइड से बने होते हैं। इनकी कठोरता ७-८ होती है। इनमें प्रकाश-किरणों का छितराव १.५ तथा इनका आपेक्षिक घनत्व २.७ होता है।

पन्ना हरीघास के रंग जैसा होता है। बेरूज नीले-हरे रंग का होता है। वैदूर्य मणि हरे रंग की होती है। पन्ना व बेरूज मारवाड़-राजस्थान की कायांतरित शिस्ट व नाइस चट्टानों में मिलता है। बेरूज नेलोर-मद्रास एवं काश्मीर की पेग्मेटाइट चट्टानों में भी मिलता है। वैदूर्यमणि राजस्थान, बिहार तथा मद्रास की पेग्मेटाइट चट्टानों में पायी जाती है।

ज़रकान या तुरसावा (ज़िरकन) :

ज़िरकोनियम तथा सिलिका के आक्साइड ज़रकान को निर्मित करते हैं। ज़रकान की कठोरता ७.८ होती है। इसमें प्रकाश-किरणों का छितराव १·९ तथा इसका आपेक्षिक घनत्व ४·७ होता है।

पारदर्शी ज़रकान पीला, हरा, नीला एवं रंगरहित भी हो सकता हैं। वैसे देखा जाय तो जरकान बहुमूल्य रत्नों के मुकाबले में कुछ कम नहीं है। इतना अवश्य है कि बहुमूल्य-रत्नों की अपेक्षा इसकी कठोरता कुछ कम है।

केदारनाथ-गढ़वाल तथा काश्मीर-हिमालय में ज़रकान पेग्मेटाइट ग्रेनाइट चट्टानों में मिलता है। यह हजारीबाग-बिहार में नदियों द्वारा लाई गई रेत में भी मिलता है। लंका व आस्ट्रेलिया में भी ज़रकान पाया जाता है।

तुरमली (टूरमेलीन) :

एल्यूमिनियम, लोहा आदि के बोरो-सिलिकेट तुरमली को बनाते हैं। तुरमली का कठोरपन ७-८, प्रकाश-किरणों का छितराव १·६ तथा आपेक्षिक-घनत्व-२.३ होता है। पारदर्शी तुरमली लाल, पीले तथा हरे रंग की भी होती है। अपारदर्शी काले रंग की तुरमली रत्न नहीं मानी जाती है।

बद्रीनाथ-गढ़वाल, पादर-काश्मीर तथा हजारीबाग - बिहार में तुरमली पेग्मेटाइट तथा कायांतरित शैलों में मिलती है। कायांतरित शिस्ट व नाइस में यह लंका व बर्मा में भी पायी जाती है।

तामड़ा (गारनेट) :

चूना, मैंगनिशियम, अल्युमिनियम व सिलिका के संमिश्रण से गारनेट निर्मित होता है। इसकी कठोरता ७ होती है। गारनेट में प्रकाश-किरणों का छितराव १·७ तथा आपेक्षिक-घनत्व ३-४ होता है।

गारनेट के संगठन में कई तत्वों की प्रधानता होती है इसलिए इस रत्न के कई प्रकार होते हैं जैसे-गुलाबी, नारंगी, हरा तथा काला। अपारदर्शी गारनेट जो हरा तथा काला होता है रत्नों की कोटि में नहीं आता, क्योंकि गारनेट के क्रिस्टल सहज सुलभ होते हैं तथा इसमें कठोरता एवं प्रकाश-किरणों के छितराव की क्षमता अन्य बहुमूल्य रत्नों की अपेक्षा कम होती है इसलिए इसे केवल मूल्यवान्-रत्न ही माना जाता है।

किशनगढ़-राजस्थान में यह कायांतरित चूना-युक्त तथा शिस्ट चट्टानों में पाया जाता है।

पुष्पराज या पुखराज (टोपाज) :

यह अल्यूमिनियम, सिलिका तथा फ्लोरीन के आक्साइड का बना होता है। इसकी कठोरता ८ होती है। इसमें प्रकाश-किरणों का छितराव १·६ तथा आपेक्षिक-घनत्व ३-४ होता है। असली पुखराज रगड़ने पर विद्युत् उत्पन्न करता है। यह प्रायः पीले-भूरे रंग का होता है।

यह भारत में विभिन्न स्थानों पर पाई जाने वाली पेग्मेटाइट चट्टानों में मिलता है (जैसे—राजस्थान, बिहार इत्यादि)

स्फटिक (राक क्रिस्टल), कार्नगार्म, जमुनिया, (एमिथिस्ट):— ये रत्न सिलिका के आक्साइड से प्रमुखतया बने होते हैं इनकी कठोरता ७ होती है। इनमें प्रकाश किरणों का छितराव १.५ तथा इनका आपेक्षिक घनत्व २.६ होता है।

प्रायः स्फटिक रंग-रहित होता है परन्तु जब इसमें मैंगनीज, लोहा तथा टाइटेनियम तत्वों का अंश होता है तो इसके प्रकार क्रमशः जमुनिया, कार्नगार्म एवं गुलाबी क्वार्ट्ज़ होते हैं। कार्नगार्म से पुष्पराज का भी भ्रम हो सकता है।

स्फटिक, जमुनिया एवं कार्नगार्म रत्न महाराष्ट्र, जबलपुर-मध्यप्रदेश, तंजोर-मद्रास एवं बिहार के ज्वालामुखी- एवं पेग्मेटाइट-चट्टानों में पाये जाते हैं।

सुलेमानी (ओनिक्स : गोमेद या अकीक (अगेट) : जेस्पार :—

स्फटिक-रत्नों की भांति सिलिका आक्साइड के द्वितीयक घोल ज्वालामुखी चट्टानों में सुलेमानी गोमेद और जेस्पार को निर्मित करते हैं। जब द्वितीयक-सिलिका

घोलों में थोड़ा अंश लोह के आक्साइड का होता है तो जेस्पार बनता है। इन रत्नों की कठोरता ७ होती है तथा इनका आपेक्षिक घनत्व २.६ होता है। ये रत्न अपारदर्शी होते हैं।

सुलेमानी एवं अकीक जैसे मूल्यवान् पत्थरों का प्रयोग मोहन- जोदडो व हड़प्पा के समय से शृंगार आभूषणों में हुआ है।

राजपीपला-गुजरात में गोमेद प्रचुर मात्रा में पाया जाता है। गोमेद, सुलेमानी व जेस्पार गुजरात, महाराष्ट्र, मध्यप्रदेश तथा बिहार की ज्वालामुखी चट्टानों में पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं।

ओपल :

सिलिका के घोल कुछ जलांश के साथ द्वितीयक क्रियाओं द्वारा ओपल बनाते हैं। प्रकाश में ओपल कई सुन्दर रंगों की झलक देता है। ओपल में विद्यमान पानी की महीन फ़िल्म जैसी परतों में से जब प्रकाश की किरणें गुजरती हैं तो ओपल से रंगीन किरणों का प्रस्फुटन होता है।

गुजरात तथा महाराष्ट्र की ज्वालामुखी चट्टानों की गुहिकाओं में ओपल पाया जाता है।

प्रकृति में स्फटिक, सुलेमानी, गोमेद (अकीक), जेस्पार व ओपल बहुमूल्य रत्नों की भांति अलभ्य नहीं है अतः ये सभी रत्न मूल्यवान् हैं किन्तु आकर्षक व सुन्दर होने की सबब से शृंगार-आभूषणों में यथेष्ट मात्रा में प्रयुक्त होते हैं।



हरियाणी का उद्गम और विकास

डा० विष्णुदत्त भारद्वाज*

आधुनिक भारतीय भाषाओं तथा बोलियों का उद्गम संस्कृत, पालि, प्राकृत तथा अपभ्रंश से है, यह तथ्य निर्विवाद हैं । अतः हरियाणी का भी उद्गम उक्त भाषाओं से हुआ है इसकी पुष्टि में कुछ शब्द प्रस्तुत हैं। प्रथम शब्द हरियाणी है तथा कोष्टकबद्ध शब्द संस्कृत का है । लामणी (लावणी), डामचा (दाममंच), सुई-(सूचिका), सलु (शूल), बोंहकरा (बहुकरि), मांजण (मार्जनी)। सै (शकृत्)' खूड (कुण्ड), पून (पवन), वान्नी (वर्णिका), बंहड़ी (बेहत्), बाखड़ी (बष्कयणी) दोभा (दोग्धृ), कंठी (कंठश्री), टाड (टड्ड), पात (पत्र), जिम्मन (जेमन), गोस्सा (गोसर्ग), लूण (लवण), लप्स्या (लिप्सा), सांग (स्वाँग), काख (कक्ष), चीण (चीर्ण), भांत (भक्ति), भींत (भितिका), करस (करीष), वाड़ा (वाटक), वारा (वारक), डाभ (दर्भ), किरति (कृत्रिका), चाक (चक्र) ।

संस्कृत, पालि से विकसित हरियाणी शब्द इस प्रकार हैं । अक्षि, अक्खि—आँख । अग्र, अग्ग—आग्गा । अग्नि, अग्गि—आग । अर्चि' अच्चि—आंच । अद्य, अज्ज--आज । अष्ट, अट्ठ—आठ । अस्थि, अट्ठि – हड्डी-हाड । अर्ध, अड्ढ, आध, आधा अभ्यन्तर, अभत्तर—भींत्तर । अश्रु, अस्सु - आंस्सु । आषाढ़, आसाल्ह – साढ़ । अवकाश, ओकास—उकाश । काष्ठ, कट्ठ—काठ । कण्टक, काँटा—कांडा । कर्म, कम्म—काम । कुक्षि, कुच्छि—कूंख । कोष्टक, कोट्ठक...कोट्ठा कोठा । ग्राम, गाम—गाम । घृत, घत—घि । चक्र, चक्क—चाक । चन्द्र, चन्द—चाँद । चतुर्दस, चुद्दस—चौदस । छत्र, छत्त—छत्ता । क्षुब्ध, छुद्ध—छोह ।

*हरियाणी भाषा और संस्कृति के विशेषज्ञ, दिल्ली प्रशासन में शिक्षण सेवा ।

जिह्वा, जिव्हा — जीभ । स्थान, ठान—ठाण । तैल, तेल—तेल । स्थविर, थेर-ठेरा । दर्वि, दव्वी — डोई । दायद्य, दायज्ज—दायजा । दुहिता, धीतृ—धीश्र । धूम्र, धूम—धुम्मा । धूलि धूल—धूल । नृत्य, नच्च—नाच । नासिका, नास्त—नास । पक्ष, पक्ख—पांख । पश्चात्, पच्छा पाछा । पञ्चम, पञ्च...पांच । पर्ण, पण्ण...पन्ना, पाना । पुस्तक, पोत्थक...पोत्थी । भाण्ड, भण्ड...भांडा । भक्त, भत्त...भात । भिक्षा, भिक्खा...भीख । श्रेष्ठी, सेट्ठी...सेठी । मुक्ति, मुत्ति—मोती । मूषक, मूसिक—मूसा । मयूर, मोर—मोर । यक्ष, यक्ख, जक्ख.. जक्क । रात्रि, रत्ति...रात । राशि, रासि...रास । वृक्ष, रुक्ख . रुंख । वक्र, वङ्क...बांगा । वत्स, वच्छ बाछा । वन्ध्या, वञ्झा... बाँझ । स्वक, सक ..सगा । शर्करा, सक्खरा . सक्कर । षष्टि, सट्ठि साठ । सत्त्व, सत्त सत । सप्त सत्त...सात । सर्व, सव्व . सब । श्वश्रू, सस्सू ..सासू । श्रृङ्ग, सिङ्ग सींग । शुष्क, सुक्ख सूखा । सुप्त, सुत्त...सूत्या । हस्त, हत्थ...हाथ ।

(१) शब्द के मध्य या अन्त में 'ल' 'ल' बन जाता है । यदि एक शब्द में दो 'ल' हैं तो पहला 'ल' 'ल' बन जायेगा और दूसरा 'ल' 'ल' रहेगा । जैसे:— कलह...कलश्र (ह०) कलाल...कलाल (ह०) सुहाली...सुहाली (ह०)

(२) शब्दान्त में 'न' 'ण' में परिवर्तित हो जाता है तथा शब्द के आरम्भ में 'न' 'न' रहता है । जैसे :...स्नान...नहाण (ह०)

(३) कुछ शब्दों के आदि 'अ' का लोप हो जाता है ।
जैसे : अंगूठी...गूंठी (ह०) । अंगोछा...गोच्छा (ह०)

(४) शब्दों का आदि 'ओ' 'उ' 'ऊ' में परिवर्तित हो जाता है । जैसे :... कोंपल...कुंपल (ह०) । गोंद...गूंद (ह०) चोंच...चुंच (ह०) । बोहारी...बुहारी (ह०) ।

(५) प्रथम वर्ण 'अ' या 'आ' या इ (ई) में अनुस्वार के आगम की प्रवृत्ति है । छत—छाँत (ह०) । छाह छाँह (ह०) । दाँद...दांद (ह०) । छीपी...छींपी (ह०) । काशी...काँशी (ह०) आटी...आँटी (ह०) ।

(६) संयुक्ताक्षर के प्रथम वर्ण का लोप और अन्तिम वर्ण के द्वित्व की प्रवृत्ति है । जैसे :...स्कन्ध.. काँध (ह०) । ओला . ओल्ला (ह०) । पौत्र...पोता...पोत्ता (ह०) ।

(७) अपभ्रंश के आदि वर्ण का 'ओ' 'ऊं' में परिवर्तित होता है। जैसे...
ओक्खल (अप०)—ऊंखल (ह०)। कुम्पल—कूंपल (ह०)।

(८) अपभ्रंश में ओकारांत शब्द आकारान्त बनते हैं तथा कभी कभी अनुस्वार का भी प्रयोग होता है जैसे :...गड्डो गड्डा (ह०)। पाओ - पाँ (ह०)।

(९) अपभ्रंश के 'उ'कारान्त शब्दों का हरियाणी में लोप होता है जैसे :- घाउ—घा (ह०)। घिउ—घि (ह०)। ठाउ-ठा—ठाँ (ह०)।

१०) आदि तथा मध्यवर्ती व का 'ब' बन जाता है।
जैसे :...चोव्वारो...चुबारा (ह०)। वट्ट बाट (ह०)।

११) आदि 'अ उ' 'ऐ' में बदल जाता है :—छइल...छैल (ह०)

१२) आदि का 'अ उ' 'औ' में बदल जाता है :...मउड़—मौड़ (ह०)।

१३) संयुक्ताक्षर का परवर्ती स्वर का दीर्घ हो जाता है :...
तिक्ख...तीक्खा...तीखा (ह०)। लट्ठी...लाट्ठी...लाठी (ह०)। तथा संयुक्ताक्षर का अन्तिम स्वर दीर्घ हो जाता है तथा संयुक्ताक्षर के प्रथम संयुक्त अंश का लोप हो जाता है। विच्चि...बीच (ह०)। सुक्ख...सूखा (ह०)।

१४) मध्यवर्ती 'ट्ट' में ट् का लोप हो जाता है।
जैसे :...कट्टारी...कटारी (ह०)। पोट्ट...पोट (ह०)।
खट्टिको...खटिक...खटीक (ह०)।

१५) आदि में 'द' का 'ड' हो जाता है जैसे :...दोरो...डोरा (ह०)। दर...डर (ह०)।

१६) क्ष...क्ख के 'क्' का लोप होता है। जैसे...अक्षर...अक्खर...अखर
द्व...दु...दो। द्वि...दु...दो

१७) दीर्घ या संयुक्त व्यञ्जन अथवा अनुनासिक व्यञ्जन के व्यञ्जन समूह में सरलीकरण के साथ पूर्ववर्ती स्वर में क्षतिपूरक दीर्घीकरण की व्यापक प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है जैसे :
भक्त ..भत्त...भात...भाता (ह०)।

पक्व पक्क...पाक...पाका (ह०)।
ग्रन्थि...गंठि...गाँठि...गाँठ (ह०)।

कभी कभी द्वितीय अक्षर पर स्वरपात होने के कारण उक्त पूर्ववर्ती स्वर में क्षतिपूरक दीर्घीकरण की जगह ह्रस्वीकरण हो जाता है
जैसे :...भिक्षा...भिक्खा...भिक्ख...भीक्ख
संस्कृत के अन्त्य दीर्घ स्वर अपभ्रंश तक आते आते 'ह्रस्व' हो गए हैं
श्वश्रू...सासु।

यवनों के आक्रमणों के कारण हरियाणी ने अरबी और फारसी के तद्भव रूपों को आत्मसात् कर लिया जिसके विषय में विस्तार से आगामी अंक में लिखा जाएगा।



आनन्द

पुरुषोत्तम अग्रवाल*

आ समन्तात् नन्दयति इति आनन्दः अर्थात् चारों ओर से नन्दन करने वाला आनन्द है। आनन्द के व्युत्पत्ति मूलक इस अर्थ से स्पष्ट हैं कि इस शब्द में दो प्रधान गुण हैं। प्रथम नन्दन का भाव अर्थात् प्रसन्नता प्रदान करने की क्षमता और द्वितीय उसका एकांगी न होना अर्थात् सब प्रकार से एवं सभी दिशाओं से इसकी अनुभूति होना। आनन्द में मन की अनुकूलता शाश्वत, चिरन्तन और सम्पूर्ण होती है। चिरन्तनता आदि गुण की इस विशेषता के कारण ही व्यक्ति का अहं परम के आनन्द में पर्यवसित हो जाता है। मन एवं बुद्धि की सतत व्यापिनी जड़ता उच्छिन्न होकर परम के आनन्द में अहं कीपुटी को उड़ेल देती है। फलस्वरूप आनन्दानुभव काल में व्यक्ति में सत्त्व का उद्रेक हो जाता है और उसका अहं उतने समय के लिए विगलित हो जाता है। इसके विपरीत मानसिक अस्वास्थ्य की स्थिति में आत्मा पर छाया हुआ विषाद का आवरण क्लेश आत्मा का उपलक्षण, आगन्तुक और परिवर्तनशील गुण है और आनन्द उसका स्वाभाविक गुण है जो अपरिवर्तनीय एवं शाश्वत है।

क्लेश या दुःख के साथ सुख के द्वन्द्व की अनवरतता बनी रहती है। सुख-दुःख दोनों ही सापेक्षिक शब्द हैं। दुःख की अनुभूति बनी रहती है, सुख आकर चला जाता है। सुख में व्यक्ति के व्यक्तित्व का प्रकाश एवं उन्नयन होता है। परन्तु यह अनुभव दैहिक है, जो इच्छा तृप्ति से सम्पन्न होता है। इस तृप्ति के अतिक्रमण से इच्छा एवं संकल्प-शक्ति का ह्रास होता है इसी से सुख क्षणिक माना जाता है और क्षणिक अनुकूल अनुभूति शाश्वत आनन्द को देने मे असमर्थ हो जातीं है। अतः

*प्राध्यापक, आलोचक तथा शुक्ल शैली के लेखक।

इच्छा और स्वाद-तृप्ति की अनुभूति आनन्द न होकर सुख संज्ञा से ही अभिहित हो सकती है। इच्छा-तृप्ति की अत्यन्त भक्ति से रोग का उद्भव होता है। यह विलासिता का सुख है। यह सुख विभिन्न संकटों को आमन्त्रित करता है, परन्तु आनन्दानुभूति दिव्य होती है। अतः उसमें पूर्णता का आभास होता रहता है।

सुख और दुःख व्यक्ति के अस्तित्व के अंग हैं। इच्छा की पूर्ति या अपूर्ति में ही सुख या दुःख रहता है। वास्तव में दुःख एक ऐसा विकार है, जिसका प्रवाह बना रहता है। दुःख की प्राप्ति में कठिनाई नहीं रहती, परन्तु सुख में दुःख का योग रहता है। प्रायः अनुभव होता रहता है कि सुख हृदय को उतना प्रभावित नहीं करता है, जितना दुःख। अल्प रोग से लोग अभिभूत हो जाते हैं और दीर्घकालीन आरोग्य का कोई महत्त्व ही नहीं होता है। सुख के अवसर पर भी लोगों को सम्भावित दुःख की आशंका से पीड़ित होते हुए देखा गया है। दुःख के इस चिंतन से ऐसा प्रतीत होता है कि अज्ञानता के कारण मानव अज्ञात रूप से ही दुःख के प्रति आसक्त हो गया है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि वह इन्द्रियों का दास है। यही दासता दुःख के उद्भव का कारण है। अतः दुःख इन्द्रियों की विषयोन्मुखता से, सुख इन्द्रियों की वैषयिक तृप्ति से, और आनन्द आत्मा के राग से उद्भूत होता है।

भौतिक पदार्थों की प्राप्ति अथवा इन्द्रियों की वैषयिक-पूर्ति से सुख मिलता है। ये पदार्थ क्षणिक हैं। अतः इनसे प्राप्त होने वाला सुख भी क्षणिक होता है। धनादि की प्राप्ति में मोह एवं तृष्णा की प्रवृत्ति ही अधिक लक्षित होती है। ये सब दैहिक भावनाएं हैं, परन्तु दुःख की स्थिति में भी इन भावनाओं से अप्रभावित एवं निर्लिप्त रहकर मानसिक दृढ़ता-जन्य आत्मा की अनुभूति आनन्द है। यह आनन्द आत्मा पर आधारित है। अतः स्पष्ट है कि सुख ही आनन्द नहीं है, अपितु यह उसका एक लक्षण मात्र है।

सुख और दुःख में आस्था एवं विश्वास भी सहायक होता है। भौतिक पदार्थों की उपलब्धि से सुख का अनुभव होता है। इसे ही भ्रम-वश आनन्द मान लिया जाता है, परन्तु यह मूढ़ता है। यदि केवल वस्तु की उपलब्धि ही आनन्द का कारण हो, तो प्रत्येक उपलब्धि में इसकी अनुभूति होनी चाहिए परन्तु व्यवहार में देखा गया है कि वस्तु की प्राप्ति भी अनेक बार दुःख का कारण बन जाती है। अतः केवल उपलब्धि आनन्द का कारण नहीं हो सकती है।

भौतिक पदार्थों की उपलब्धि अपने से भिन्न किसी अन्य वस्तु की होती है। उस वस्तु की प्राप्ति से स्वामित्व का सुख मिल सकता है, आनन्द की अनुभूति नहीं हो सकती है। आनन्द की अनुभूति में मानसिक तनाव या उलझन नहीं होनी चाहिए, परन्तु स्वामित्व के सुख में अनेक चिन्ताए उत्पन्न हो जाती हैं। अतः सुख और आनन्द एक न होकर भिन्न-भिन्न अनुभूतियां हैं।

सुख क्षणिक अनुभूति है और आनन्द शाश्वत। आनन्द का प्रभाव देर तक बना रहता है और सुख का प्रभाव वस्तु प्राप्ति के पश्चात् कम होने लगता है। आनन्द के सातत्य में एकरसता बनी रहती है, सुख दीर्घकालीन होकर महत्त्वहीन हो जाता है, उसका वेग थम जाता है, क्योंकि सुख में प्राप्त वस्तु का स्वामित्व देर तक अनुकूल प्रभाव बनाए रखने की क्षमता खो बैठता है। प्रायः उस वस्तु के स्वामित्व के हट जाने का भय सताता रहता है। इससे वह चिरन्तन सुखद अनुभूति देने में असमर्थ हो जाता है। दूसरी बात यह है कि उस वस्तु के स्वामित्व में निरन्तरता अथवा दीर्घ कालिकता की भावना आते ही उसकी नवीनता नष्ट हो जाती है और भौतिक पदार्थों द्वारा प्राप्त सुख में नवीनता का महान् योग रहता है अतः सुख की अनुभूति में नवीनता का सहयोग असंदिग्ध है। आनन्द में इस प्रकार का कोई बन्धन नहीं रहता है।

आनन्द और सुख में अंगी और अंग का भेद हो सकता है। आनन्द सम्पूर्ण अनुभूति है, सुख आंशिक आनन्द के विभिन्न भेद करना यदि अनिवार्य हो, तो केवल कथन के लिये उसका एक भेद प्राकृतिक, वैषयिक या इन्द्रिय गोचर आनन्द किया जा सकता है। वैषयिक शब्द का अर्थ ही विषय सम्बन्धी होता है। विषय की इन्द्रिय गोचरता भौतिक होगी। यही आनन्द सुख है, जिसे भ्रमवश आनन्द संज्ञा दे दी जाती है। वास्तविक आनन्द भौतिक पदार्थों का हो ही नहीं सकता है। वह तो अलौकिक या आध्यात्मिक होता है अतः सुख का-विषय आनन्द-भौतिक होने से शारीरिक या दैहिक है और अलौकिक आनन्द आत्मिक होने से आध्यात्मिकता की सीमा का आनन्द है।

आनन्द की तीसरी कोटि में बौद्धिक आनन्द की गणना हो सकती है। यह चिंतन का आनन्द है, बुद्धिगम्य है। अतः सामान्य रूप से इस आनन्द का बोध सबको

नहीं हो पाता है। चिंतन स्थूल एवं सूक्ष्म दोनोंका हो सकता है। इसके लिये बुद्धि की एक विशेष स्थिति एवं धरातल आवश्यक है। बुद्धि का ऐसा उन्मेष सबका नहीं होता। अध्ययन अध्यापन या ग्रन्थों आदि के मनन से ऐसी बुद्धि अर्जित-की जा सकती है। अतः बुद्धि जन्य यह आनन्द बौद्धिक ही है, भौतिक आनन्द (सुख) की भाँति ऐन्द्रिय नहीं। सुख प्राकृतिक होने से सहज और स्वाभाविक है, जो प्राणिमात्र में वर्तमान रहता है। इसे विलासिता का आनन्द कह सकते है,जो निसर्ग, गत संवेदना के रूप में स्वतः ही उद्भूत हो जाता है। चिंतन का आनन्द श्रमसाध्य है, क्योंकि वह अर्जित है। अलौकिक आनन्द आध्यात्मिक है, क्योंकि इसकी भावनाएं अन्तर्मुखी हैं। अतः स्पष्ट हो गया कि सुख और आनन्द के लक्ष्य और प्रस्थान में अन्तर होने के कारण सुख बहिर्मुख है, भौतिक पदार्थों के भोग से उत्पन्न होता है और उसका लक्ष्य दैहिक है। इससे अहं की तृप्ति होती है, विलासिता का आनन्द मिलता है और व्यक्ति स्वकेन्द्रित होता चला जाता है, परन्तु आनन्द अन्तर्मुखी है, इसमें आत्म-भोग की अनुभूति होती है और वह चिंतन या अलौकिकता के क्षेत्र में अपना उन्नयन करता है।

अन्तर्मुखी होकर आनन्द की ही अनुभूति होती है, सुख की नहीं। रस दशा में सत्व का उद्रेक अन्तर्भावनाओं का ही उद्रेक है। इसे स्वरसानन्द काव्यानन्द, सत्वोद्रेकजन्य आनन्द अथवा ब्रह्मानन्द सहोदर कहा जाता है। इसमें सुख के मूल भूत तत्त्व'स्व' चेतना का निलय हो जाता है। अहं दब जाता है और व्यक्ति अहं और पर की सीमा से परे होकर इस आनन्द में लीन हो जाता है। पूर्वजन्म के अनुभूत संस्कारों के कारण वह अपने ही आवेगों में लीन हो जाता है। उसकी यह लीनता कुछ काल के लिये उसे बाह्य जगत् से विच्छिन्न कर देती है। वह आत्मकेन्द्रित हो जाता है, अहं केन्द्रित नहीं। अहं के क्षेत्र में आते ही उसे सुख की अनुभूति होने लग जायगी, आनन्द की नहीं। अतः दोनों के लक्ष्य में स्पष्ट अंतर है।

सुख बाह्य पदार्थों का होता है। इस अनुभूति में व्यक्ति की अपनी चेतना चतुर्दिक् वातावरण, समाज आदि का अनेक प्रकार का प्रभाव रहना है। वह इन प्रभावों से अभिभूत न होता हुआ अपने अहं को बनाये रखता है। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिये उसे आत्म-केन्द्रित होना पड़ता है वह समाज और वातावरण की सीमा में रहकर भी अपने 'स्व' की रक्षा करता रहता है। इससे उसके स्वतंत्र

अस्तित्व के समक्ष प्रश्न का चिन्ह नहीं लगने पाता है। उसकी यह स्वकेन्द्रीयता उसे अपने ऊपर आसक्त कर देती है। इससे उत्पन्न अहं-केन्द्रित भावना रुचि को प्रशस्त नहीं रहने देती। उसका अहं सुख स्वार्थ वृत्ति का प्रेरक बन जाता है। क्रमशः वह पर-हित की भावना से विरत होता चला जाता है। इसके विपरीत आध्यात्मिक उद्देश्यमय जीवन और विश्वमैत्री की रुचिकर अनुकूलता में आनन्द की उपलब्धि होती है। यह व्यक्तिगत और अहं केन्द्रित न होकर समष्टिगत और आत्मचेतना युक्त हो जाता है। वास्तविक आनन्द की प्राप्ति व्यष्टि में न होकर समष्टि में ही है।

समष्टि का यह आनन्द भूमा का आनन्द है। भूमा का सुख अल्प में नहीं रहता, बहुत्व में होता है। ऐसा ही आनन्द अभयत्व है। अद्वैत की अनुभूति में ही अभय की प्राप्ति होती है। जबतक द्वैत है, तभी तक भय रहता है। द्वैत के समाप्त होते ही भय का पर्यवसान हो जाता है। भयशून्यता में आनन्द नित्य रहता है। मानव की तीनों अवस्था जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति में आनन्दानुभव की कुछ न कुछ प्रवृत्ति रहती है। विषयों का अभाव होने पर सुषुप्ति अवस्था में भी आनन्दानुभूति होती है। यहाँ सुख दुःख का द्वन्द्व दब जाता है। ऐसी स्थिति में आनन्द का अपरोक्ष अनुभव होता रहता है। अतः आनन्द शाश्वत निर्विषय और आत्मिक है।

आनन्द अन्तरात्मा की प्रमुख भावना है। यह उसके अंग रूप में वर्तमान रहता है। आत्मा की आनन्दमूलक पाँच प्रवृत्तियाँ ज्ञान, सौन्दर्य, प्रेम कल्याण और निर्माण हो सकती हैं। इन्हीं की परिपूर्णता में शाश्वत आनन्द की उपलब्धि होती है। और इनके आपेक्षित विकास में व्यक्तित्व का निर्माण होता है। विराट् विश्व की आत्मा में भी ये भावनाएं काम करती हैं। आनन्द चेतन पुरुष का धर्म है। विश्व अचेतन प्रकृति नहीं है। अतः चेतन होने के कारण मानव भी विश्वपुरुष का अंग है और आनन्द स्वरूप है। इस आनन्द का अनुभव हो जाने पर अन्य सब कुछ फीका प्रतीत होने लगता है। आनन्द का स्वाद गूंगे के गुड़ के समान है, अनुभव-गम्य है। आत्म-ज्ञान रहने से ही इसकी अनुभूति होती है। आत्म-ज्ञान और आनन्दानुभूति दोनों में एक तारतम्य है। इसी से रहस्यवादी एवं दार्शनिकों के सिद्धान्त में आनन्द वाद का महत्त्व है।

इस आनन्द का अनुभव करके मानव आनन्दी बन जाता है। तैत्तिरीय उपनिषद् २/७/१ में बताया गया है कि "रसो वै सः। रस ह्येवायं लब्ध्वानन्दी

भवति । एष ह्येवानन्दयति" और इस रस को पाकर मनुष्य आनन्दी बन जाता है। बृहदारण्यक में बताया गया है कि इस आनन्द के अंश मात्र के आश्रय से प्राणी जीवित रहते हैं। समस्त पदार्थों का कारण, आधार और लय आनन्द ही है "आनन्दात्खल्विमानि भूतानि जातानि...अर्थात् आनन्द से ही सम्पूर्ण प्राणियों का उद्भव होता है, आनन्द में ही स्थिति रहती है और अन्त में आनन्द में निलय हो जाता है। इससे स्पष्ट है कि मानव की अन्तश्चेतना में व्याप्त आनन्द-बीज ही चेतन होकर प्रस्फुटित हो जाता है। वह निस्पंद, अस्फुट और अचेतन रह ही नहीं सकता है। इसी से जीव आनन्दस्वरूप ही होता है। उस आनन्द को विश्व में बिखेर देने के लिये मानव अपनी आत्मा की आनन्दतरंग को विश्वात्मा के आनन्द-उदधि में प्रवाहित कर देता है। इससे सृजन की चेतना जागृत होती है, जो आनन्द को जन्म देती है और आनन्द के अंदर ही अपना पर्यवसान ढूंढ लेती है। यहाँ वैषयिक आनन्द का संकेत नहीं है। कारण यह है कि वैषयिक आनन्द भौतिक जीवन का प्रेरक बन सकता है, आध्यात्मिक जीवन का नहीं। आत्मिक क्षेत्र में आत्ममूलक भावनाओं की तुष्टि से आनन्दमय जीवन का आरम्भ होता है। यही मूलभूत भावना है। इसी से हमारे कार्य भी आनन्दलक्षी ही होते हैं। यह आनन्द भौतिक न होकर आत्मिक होता है और आत्मिक आनन्द की ही आनन्द संज्ञा यथार्थ है, शेष तो सुख है।

तात्विक व नैतिक दृष्टि से भी दोनों में अन्तर है। वेदान्त में सुख को सातिशय सुख और आनंद को निरतिशय सुख कहा गया है। आनंद स्थिर, और नित्य है, सुख चंचल एवं भंगुर है। सुख के साथ दुःख का द्वंद्व रहता है, आनंद द्वंद्व रहित है। सुख को यदि आनन्द-लेश कहें तो आनंद का सम्बन्ध आत्मा से है। सुख विषय है, आनन्द निर्विषय, सुख लौकिक है, आनन्द लोकोत्तर सुख आनन्द पर निर्भर हो सकता है, परन्तु आनन्द सुख पर नहीं। प्रेय की प्राप्ति सुख है और श्रेय की तृप्ति आनन्द है। सुख का सद्गुण से विरोध हो सकता है, आनन्द का नहीं। अभ्युदय सुख का प्राप्य है, निःश्रेयस् आनन्द का। अतः आनन्द सर्वगुणोपेत आत्मिक धर्म है और इसकी प्राप्ति जीवन का चरम लक्ष्य है इसीसे इस आनन्द की साधना जीवन का लक्ष्य होनी चाहिये।



व्यवसाय एवं उद्योगों में चोर बाजारी क्यों ?

भ० च० चतुर्वेदी*

उपरोक्त एक ऐसा प्रश्न है, जिसने आज के जनमानस को बवण्डर की तरह घेर रखा है। स्थिति यह है कि चाहे यथार्थ में हो अथवा अपने ही दृष्टि दोष से लगता हो हमें चारों ओर चोर बाजारी तथा चरित्र हीनता ही प्रतीत होती है। यदि लोगों को हम दो भागों में बांट दें यथा एक कुर्सी के ऊपर एवं दूसरा कुर्सी के नीचे तो हम देखेंगे कि जो नीचे है अथवा शासित कहै—वे सब एक दूसरे से इसकी शिकायत कर रहे हैं तथा जो कुर्सी के ऊपर हैं वे अपने नित्य के भाषणों के अनुसार इसके उन्मूलन में लगे हुए हैं। फिर यह एक अचरज की बात है कि राज्य की इतनी विशाल केन्द्रीभूत शक्ति को लेकर तथा नित्य अपनी हैरानी की शिकायत करती हुई जनता के सहयोग पर भी यही कहा जाता है कि चोरबाजारी तथा चरित्र हीनता सुरसा के मुंह की तरह बढ़ते ही जाते हैं, घटते नहीं।

एक साधारण सिद्धान्त है कि कार्य मात्र का कुछ कारण होता है तथा कारण के अभाव में कार्य होता नहीं। अस्तु, अपनी इस विशाल सामाजिक बीमारी का, यदि वह है, तो कुछ कारण भी होगा ही। तथा यदि सचमुच हमें अपनी इस बीमारी से हैरान होकर उसे दूर करने की इच्छा है तो हमें इसके कारणों को मिटाना होगा

अब तक यदि हमने इस पक्ष में शासक अथवा शासित के रूप में कोई प्रयत्न किये हों तथा उनसे बीमारी घटने के स्थान पर बढ़ी ही हो तो यह मान लेना होगा

---

*भारतीय साहित्यकार संघ आगरा के संयोजक।

कि हमारे कार्यक्रम में कुछ दोष हुआ है। यदि थोड़ी देर के लिये हम यह मानकर चलें भी कि हमारी नियत इस सम्बन्ध में ठीक ही रही है। पाश्चात्य ढङ्ग, जिसमें पिछले बीस वर्षों से हम डूबे रहे हैं अथवा हमें डुबो के रक्खा गया है, के अनुसार जीवन के किसी भी क्षेत्र में फल (Effects) को ही सब देखते हैं, कारण (Cause) को कोई सोचता नहीं। तो अपने अपनाए उसी ढङ्ग के अनुसार हम चोर बाजारी एवं भ्रष्टाचार के विरुद्ध जहाँ कुर्सी के नीचे वालों से शिकायत सुनते रहते हैं वहां 'कुर्सी के ऊपर वालों' से नित्य नई ललकारें भी सुना करते हैं। किन्तु लोगों का कहना है कि चोर बाजारी एवं भ्रष्टाचार यदि कल धोती छोड़ लंगोटी पहन कर नाच रहे थे तो आज उनका नङ्गा नाच हो रहा है।

सैद्धान्तिक रूप से यह स्वयंसिद्ध है कि यदि चोर बाजारी एवं भ्रष्टाचार के विरुद्ध सचमुच कृत-सङ्कल्प हो हमारे शासक वर्ग ने उसके कारणों पर विचार कर उन्हें दूर करने की चेष्टा की होती तो निश्चय ही उसके फल स्वरूप चोर बाजारी एवं भ्रष्टाचार को नष्ट हो जाना था।

यहां हम विषय के एक पक्ष यथा चोरबाजारी मात्र पर कुछ साधारण सा विचार करेंगे। चोर बाजारी से मोटे तौर पर जो समझा जाता है, वह है व्यापारियों एवं व्यवसाइयों इत्यादि द्वारा बहुत ऊंचे लाभ पर वस्तु विक्रय-फिर चाहे वह एक ही 'भाव निश्चित' हो जाने के द्वारा मिले अथवा माल को रोककर कृत्रिम कमी का वातावरण उत्पन्न करके।

मेरा निवेदन है कि इस विषय पर थोड़ा मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी सोचा जाय। हम सब जानते हैं कि यदि व्यापार को स्वतन्त्र रहने दिया जाय तो आपसी प्रतियोगिता के फलस्वरूप स्वाभाविक ही कम से कम लाभ पर अधिक से अधिक माल बिक्री के द्वारा धन कमाने का प्रयत्न वे करते हैं। साधारण रूप से अच्छे व्यापारियों को कम से कम लाभ पर अधिक से अधिक माल खपत द्वारा धन कमाने के लिये प्रयत्न शील देखा जाता है। अब हम देखें कि इस सहज व्यवस्था में अंतर कहाँ से आता है। तो स्पष्ट है कि यदि व्यापारी अथवा व्यवसायी इत्यादि पर कोई अतिरिक्त भार आ पड़े तो वे अधिक लाभ के द्वारा ही उसे पूरा कर सकते हैं। किन्तु अधिक लाभ यदि कुछ विशेष व्यापारी यों ही लेना चाहें तो वह सहज आपसी

प्रतियोगिता के वश स्वतः समाप्त हो जायेंगे। परन्तु वही कार्य यदि वे समाज में सर्वाधिक शक्तिशाली राज्य के आश्वासन पर उसी शक्ति के प्रश्रय में करें तो फिर विशेष परिस्थिति बन जाती है तथा सहज व्यवस्था के बिगड़ जाने के स्थान पर इस विशेष परिस्थिति में वे मनमाने रूप से बन सकते हैं। अपने द्वारा नियन्त्रित व्यापार की प्रणाली अथवा अवस्था में राज्य शक्ति किसी एक हल्के इशारे पर किसी भी व्यापारी अथवा उद्योगपति को कितना भी लाभ प्राप्त करा सकती है। कहने का तात्पर्य यह है कि ऐसी चोर बाजारी राज्य के प्रश्रय में ही सम्भव होती है। कुछ विशेष व्यापारियों एवं अन्य साधारण व्यापारियों की आर्थिक स्थिति में जमीन आसमान का अंतर भी अनेक बार उन विशेष व्यापारियों में राज्य की रुचि के कारण हो जाता है। राज्य की आधुनिक अंधेरे में टटोलने वाली चलती हुई प्रणालियां इसीलिये जीवन में अभी तक वस्तुतः सुखद परिणाम उपस्थित नहीं कर पाई हैं।

ठीक विषय पर बने रहने के लिये, आगे प्रश्न उठता है कि राज्यशक्ति को व्यापारियों से ऐसी क्या रुचि है ? तो स्पष्ट है कि राज्यशक्ति जिन मनुष्यों के हाथ में है अथवा होनी ही है वे या तो तथाकथित राजनैतिक पार्टियों के सदस्य हैं अथवा बिना पार्टी वाले भी हो सकते हैं पर आए वह वोट वाला चुनाव लड़कर हैं अथवा आने वाले हैं जो प्रतिभा के आधार पर न होकर अपनी चालाकी एवं हथफेर के द्वारा धन के बल पर ही जीता जाता है। और धन कोई जादू के जोर से तो आएगा नहीं, न किसी के बाप ने इतना धन छोड़ा है जो कितना ही व्यय किया जाय, बिना आय के भी समाप्त न हो। धन देश अथवा दुनिया के एक एक व्यक्ति से संग्रह होता है व्यापारियों तथा दूसरे उद्योगियों इत्यादि के द्वारा। वही धन आगे जब वे लोग, जिनके हाथ में राज्यशक्ति हो अथवा जिनके हाथ में राज्यशक्ति के आ जाने की आशा हो, विशेषतः उस प्रणाली के अन्तर्गत जिसमें व्यापार एवं विद्या सरकारी नियन्त्रण में हों अथवा स्वयं सरकार द्वारा ही चलते हों, माँगें तो व्यापारी अथवा अन्य किसी की क्या मजाल जो इन्कार कर दे। इंकार करे भी क्यों उसे तो पहले वे देते अथवा कहीं से मिलवा या दिलवा कर तभी उससे लेते हैं। उसे तो धन से मोटा देखना ही शासन वालों को अभीष्ट है क्योंकि जनता से बारबार धन प्राप्ति का वह उनका एक अपरोक्ष माध्यम होता है। अपनी तथा अपने परिवार की जीवन रक्षा के लिये अपनी स्थिति में व्यापार अथवा उद्योग छोड़

और कुछ उसस बनना नहीं, शासन वालों को नाराज करके उसकी गुजर नहीं, सबसे अलग होकर चलना सरकारी नियोजित अर्थ व्यवस्था में सम्भव नहीं, धर्म सिद्धांत की रक्षाहित मिट जाने का उसका मानसिक स्तर नही तो फिर वह बेचारा और कर ही क्या सकता है ? अस्तु, शासन वालों की इच्छानुसार चलने में ही उसे अपनी गुजर दिखाई देती है। इस प्रकार स्वाभाविक ही वह अपने को उस धारा में छोड़ देता है जिधर उसे शक्तिवालों द्वारा धकियाया जाता है। व्यापारी अथवा उद्योग वालों का इसमें अपना कोई दोष नहीं। उन्हें तो शासन वाले आयंदा भी अपने काम में आने के लिये और अधिक मोटा देखना चाहते हैं तथा उन्हें वैसा होना पड़ता है।

अस्तु, जनता अथवा 'कुर्सी के नीचे' वालों के रूप में हम अपने स्वयंभू नेताओं से चाहे वे 'कुर्सी पर बैठे' हों अथवा 'बैठने के प्रयत्न में' हों, पार्टी वाले हों या बिना पार्टी वाले हों, विनीत भाव से किंतु स्पष्ट कहते हैं कि चोर बाजारी दूर करने के लिये निरर्थक केवल हमें बहकाने के लिये अपने आपको चिल्ला-चिल्ला कर कष्ट न दें तथा उसे दूर करने की कृत्रिम योजनाओं में निरर्थक व्यय कर हमारी आर्थिक कठिनाइयों को और अधिक बढ़ाने का कारण पैदा न करें।

यदि सचमुच उनकी यह भावना है कि यह चोर बाजारी हट जाय, किंतु उसका ठीक मार्ग यदि उनको नहीं मिलता तो हम अपने मन के प्यार के साथ उन्हें राय देते हैं कि वे सर्व प्रथम यह खुले आम निश्चित करें कि अबसे कोई दल अथवा व्यक्ति किसी व्यापारी, उद्योगपति, अथवा किसी भी धनिक से धन न लेगा, यह भी कि चुनाव में कोई दल वा व्यक्ति अपने या दूसरे के चुनाव के लिये सीधा जनता से सम्पर्क भी न करेगा, न कर पावेगा। देश का कानून इस निश्चय का संरक्षण करे। कोई कहेगा कि फिर चुनाव कैसे होंगे तो हम बतावेंगे कि यदि चुनाव वोट द्वारा करवाना ही है तो सभी के प्रचार की जुम्मेदारी सरकार पर हो। सरकार रेडियो, अखबार तथा देहातों में एक एक पत्र, लेखपाल इत्यादि द्वारा पढ़वाकर सबका एक बराबर संदेशा पहुंचवा दे। सारे लोग ही ऐसी स्थिति में चुनाव के लिये खड़े न हो जायं, ऐसी रोक के लिये कुछ सोचा जा सकता है।

एक मूल बात जो हम एक दम सीधे अभी नहीं कहना चाहते वह वोट तथा

बहुमत दी पश्चिम से प्राप्त शासन प्रणाली की अवैज्ञानिकता के बारे में है क्योंकि उसका परिणाम सिवा भ्रष्टाचार के और कुछ हो नहीं सकता।

सो फिलहाल हम विश्वासपूर्वक भली भाँति विचार कर इतना ही कहते कि यदि वैसा निश्चय हो गया तो व्यापारियों तथा धनपतियों से लगाव के अभाव में राज्यशक्ति की तटस्थ दण्डशक्ति इतनी प्रभावशाली तथा प्रकाशमान हो उठेगी कि चोर बाजारी जिसमें सामान में मिलावट भी शामिल है, उजाला होने पर अंधेरे की भाँति विलीन हो जाएगी।



अनाम सम्बोधन

विश्वनाथ मिश्र*

लौट गये अर्षित कर
मंजिल की दूरियाँ
सम्बोधन किसी के अनाम
बोये जिनमें सपने
सूख गये खेत
आयु भर चुभन देती
फैल गई रेत
साँसों पर लदी रही
उर्वरक नपुंसकता
उद्बोधन करती ना काम
लौट गये अर्पित कर
मंजिल की दूरियाँ
सम्बोधन किसी के अनाम







आपस में टकरा कुछ
टूटे संत्रास
और बढ़े पग दो पग
बेदम विश्वास
भोर से बहुत पहले
कुहरे सी फैल गई
असफलता निष्क्रिय निष्काम
लौट गये अर्पित कर
मंजिल की दूरियाँ
सम्बोधन किसी के अनाम

---

*रूसी तथा अनेक भारतीय भाषाओं के अनुवादक, कविता, कहानी, नाटक तथा रिपोर्ट लेखक।

स्वातन्त्र्य-पूर्व के २५ वर्षों में राष्ट्रिय चेतना में हिन्दी कवियों का योगदान

क्षितीश वेदालंकार*

सृष्टि के अन्य देशों में जैसी विविधता दृष्टिगोचर होती है, वैसी ही विविधता भारत में भी है। परन्तु इस विविधता को कुछ लोगों ने विभिन्नता मानकर राष्ट्रिय ऐक्य के मार्ग में बाधा उपस्थित की है। दृश्यमान विविधता को विभिन्नता की संज्ञा देकर विदेशी शक्तियों ने खूब ढोल पीटा। यह एक तथ्य है कि भारत में एकता जितनी वैचारिक स्तर पर थी, उतनी राजनैतिक स्तर पर नहीं। उन्नीसवीं सदी में जन-जीवन की सामाजिक चेतना धार्मिक पुनरुत्थान तक सीमित रही। बीसवीं सदी में ही राजनीतिक संघर्षशीलता आई और उसी के साथ आधुनिक अर्थों में राष्ट्रियता का विकास हुआ।

जाति, धर्म, भाषा या संस्कृति की एकता का नाम ही राष्ट्र नही हैं, वह तो वास्तव में भावना की एकता का प्रतीक है जो साहित्य में जिस प्रकार व्यक्त होती है, वैसी अन्यत्र नहीं। भारत का प्राचीन वाङ्मय इस बात का प्रमाण है कि देश के आकाश में राष्ट्रिय भावना की वाष्पराशि सदा संचित रही है और अनुकूल अवसर आने पर उसके वर्षारूप से राष्ट्र आप्यायित भी हुआ है। वेद के पृथ्वीसूक्त से तथा विविध वैदिक वंदनाओं से जो राष्ट्र चिन्तन की भावधारा आरम्भ हुई, वही आज हिन्दी क्षेत्रों के तटों को छूती हुई वर्तमान से अनागत की ओर निरंतर प्रवाहित हो रही है।

---

*साहित्य समीक्षक, दैनिक हिन्दुस्तान।

राष्ट्र के जागरण में समस्त भारतीय भाषाओं की कविता ने अपना महत्त्व-पूर्ण योगदान दिया परन्तु हिन्दीभाषियों का क्षेत्र जितना विशाल है, राष्ट्रियता में हिन्दी कविता का योगदान भी उतना ही व्यापक है। भारत के जितने हृदयस्थ और मध्यवर्ती प्रदेश हैं, वे सब हिन्दी भाषी हैं। हरियाणा, उत्तर-प्रदेश, बिहार, राजस्थान, मध्य-प्रदेश ये राज्य भौगोलिक दृष्टि से भारत के मध्य में स्थित हैं। यह सत्य है कि अंग्रेजों के आगमन के पश्चात् सबसे पहले राजनीतिक प्रतिक्रिया भारत के तटवर्ती प्रदेशों में हुई क्योंकि समुद्र के रास्ते आने वाले अंग्रेजों का प्रथम पदार्पण वहीं हुआ और वहीं के निवासियों में पहले पहल अंग्रेजी के माध्यम से पश्चिम के विचारों का प्रवेश हुआ। परन्तु वह चेतना जब तक भारत के मध्यवर्ती प्रदेशों में नहीं पहुंची, तब तक हमारे स्वाधीनता संघर्ष में भी जान नहीं आई। भारत में किसी भी आन्दोलन की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि इन मध्यवर्ती प्रदेशों की जनता जो मुख्यत: हिन्दीभाषी हैं इस आन्दोलन को सर्वात्मना अपना ले। आबादी की सघनता की दृष्टि से भी देश का यह भाग और भागों से बढ़कर है। स्वाधीनता प्राप्ति का राष्ट्रिय आन्दोलन भी तभी सफल हुआ जब इन मध्यवर्ती प्रदेशों की जनता ने उस आन्दोलन को मनसा-वाचा-कर्मणा अपना लिया। इसीलिए हिन्दी प्रकारान्तर से हमारी राष्ट्रियता का वाहन बन गई। अगर हिन्दी ने राष्ट्रिय कविता के रूप में स्वाधीनता आन्दोलन को अपने कंधों का सहारा न दिया होता तो कदाचित् देश का इतिहास कुछ और होता।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पूर्व के जिन २५ वर्षों की साहित्यिक चेतना का हम उल्लेख करना चाहते हैं, उसकी सीमा सन् १९२० से सन् १९४७ तक माननी चाहिए। दो वर्ष का अन्तर होने पर भी यही समीचीन प्रतीत होता है। सन् १९२० के आसपास ही देश के राष्ट्रिय आन्दोलन की बागडोर पूर्णत: महात्मा गाँधी के हाथ में आई थी। उससे पहले राजनीतिक रंगमंच पर लाल-बाल पाल का दौर दौरा था। हिन्दी साहित्य में तब द्विवेदी-युग (१९०० से १९२० तक) समाप्त हो रहा था और ब्रजभाषा के स्थान पर खड़ी बोली गद्य और पद्य दोनों में हावी हो चुकी थी।

राजनीतिक पृष्ठभूमि :—जहाँ तक राजनीतिक पृष्ठभूमि का संबंध है, सन् १९०४-०५ में रूस के साथ युद्ध में जापान की विजय पर समस्त एशिया में हर्ष की लहर दौड़ गई थी और यूरोप से सदा शासित रहने की उनकी भावना हिल

गई थी। जापान की विजय के फलस्वरूप चीन, भारत, तुर्की और ईरान आदि देशों में राष्ट्रिय चेतना की नई लहर दौड़ गई। सन् १९१७ में रूस में जारशाही खत्म हो गई और नई राज्यव्यवस्था स्थापित हो गई तो भारत के किसान और मजदूरों को भी अपनी मुक्ति का मार्ग दीखने लगा। रूस के उदाहरण से भारत के क्रान्तिकारियों को बड़ी प्रेरणा मिली। उस समय कांग्रेस में भी दो दल थे—एक नरम और दूसरा गरम। लाल-बाल-पाल की प्रच्छन्न सहानुभूति क्रान्तिकारियों के साथ थी और वे गरम दल के नेता थे पर कांग्रेस में भी गोखले के नेतृत्व में नरम दल भी तेजी से उभरता जा रहा था। नरम दल वाले 'भिक्षां देहि' की वृत्ति से अंग्रेजों से औपनिवेशिक स्वराज्य का दर्जा मिल जाने में ही अपना अहोभाग्य समझते थे, परन्तु गरम दल वाले 'शठे शाठ्यम्' की नीति से काम लेकर पूर्ण स्वराज्य की दिशा में सोचते थे। काँग्रेस उस समय किस गजगामिनी गति से चल रही थी, इसका प्रमाण यह है कि सन् १९३० के लाहौर अधिवेशन से पूर्व यह पूर्ण स्वराज्य का प्रस्ताव तक पास नहीं कर सकी। इसमें मूल कारण काँग्रेस संगठन पर नरम दल वालों का बढ़ता वर्चस्व ही था।

सन् १९२० से ५, ६, साल पहले महात्मा गांधी दक्षिण अफ्रीका से भारत आ चुके थे। पर वे अभी धीर-समीर मलयानिल के झोंके के समान ही थे, गाँधी की आंधी आने में अभी देर थी। सन् १९१४ में भारतवासियों ने जर्मनी के विरुद्ध विश्वयुद्ध में अंग्रेजों की भरसक सहायता की थी। बिना भारत के सहयोग के अंग्रेजों की विजय असम्भव थी। इस सहयोग के बदले में भारतवासी अंग्रेजों से उदारता की आशा करते थे, परन्तु उन्हें मिला १९१९ की १३ अप्रैल को जलियांवाला बाग का नृशंस नरमेध और रौलट ऐक्ट। इस नरमेध ने भारतवासियों के हृदय में अंग्रेजों के विरुद्ध तीव्र रोषाग्नि प्रज्वलित कर दी। ब्रिटिश सरकार समझती थी कि आतंक और दमन से वह भारतवासियों की आत्मा को कुचल देगी, पर बात उलटी हुई। हिन्दी के कवि और साहित्यिक के मन पर इसकी क्या प्रतिक्रिया हुई, इसका दिग्दर्शन निम्न दो कविताओं से हो जाएगा। सुभद्रा कुमारी चौहान ने 'जलियाँ वाले बाग में वसंत' शीर्षक कविता में लिखा था—

बहनें कई सिसकती हैं, हा सिसक न उनकी मिट पाई,
लाज गंवाई, गाली खाई, तिस पर भी गोली खाई।

कोमल बालक मरे जहां गोली खा-खाकर,
कलियां उनके लिए चढ़ाना थोड़ी लाकर।
आओ प्रिय ऋतुराज! किन्तु धीरे से आना।
यह है शोक स्थान, यहाँ मत शोर मचाना ॥

('मुकुल' से)

एक 'भारतीय आत्मा' के नाम से भारत की आत्मा की वेदना को माखनलाल चतुर्वेदी ने "हिम किरीटिनी" में उत्था कर दिया।

'मुंह बंद कर' वाणी पर और 'मत लिखो' कह कर अखबारों पर अंकुश लगाने वाले, भारत रक्षा के नाम पर लोगों को हथकड़ी-बेड़ी पहनाने वाले और जलियांवाला बाग का हत्याकांड मचाने वाले अंग्रेजों के प्रति भारतवासियों के मन में उस समय कितना रोष और आक्रोश था, यह उनकी उक्त रचना से पता लगता है।

सन् १९२० में कलकत्ता के कांग्रेस अधिवेशन में महात्मा गाँधी की प्रेरणा से ब्रिटिश सरकार से असहयोग प्रस्ताव पास हुआ। उस प्रस्ताव को क्रियान्वित करने का भार भी महात्मा गाँधी को ही सौंपा गया। गांधी जी ने इस असहयोग को चरितार्थ करने के लिए जो कार्यक्रम बनाया उसमें सरकारी स्कूल-कालेजों, अदालतों, उच्च सरकारी पदों तथा विदेशी माल का बहिष्कार सम्मिलित था। तब स्थान स्थान पर राष्ट्रिय शिक्षा संस्थाएं खोली जाने लगीं, विदेशी वस्त्रों की होली जलाई जाने लगी और खादी तथा चर्खे का प्रचार बढ़ चला। असहयोग के इस रूप ने जनता की अंग्रेजों के विरुद्ध रोष भावना को प्रकट होने का रचनात्मक रूप दिया और महात्मा गांधी ने जनता को तुरन्त स्वराज्य की कल्पना से स्वप्नाविष्ट कर दिया। असहयोग आन्दोलन ने गांधी जी के मलयानिल झोंके को वन्य वात्या बना दिया और आंधी में जैसे सूखे पेडों के पत्ते उड़ चलते हैं और बड़े बड़े पेड़ धराशायी होकर आत्मसमर्पण कर देते हैं' वैसे ही ब्रिटिश साम्राज्य के स्तम्भ समझे जाने वाले अभिजात वर्गीय वकील-बैरिस्टर और रायसाहब धराशायी होकर गाँधी के पक्ष में आने लगे और जनता तो सूखे पत्तों की तरह आंधी में उड़ चली।

राष्ट्रिय कविता के मुख्य उपादान :—इस युग की कविता भी राष्ट्रियता

के पंख लगाकर उड़ी है। राष्ट्रिय काव्यधारा में कवियों ने जिन प्रवृत्तियों का परिचय दिया है उनमें मुख्य ये हैं—

१. अतीत-गौरव-गान; २. सांस्कृतिक नवजागरण; ३. साम्प्रदायिकता का विरोध और राष्ट्रिय एकता की महिमा; ४. स्वातंत्र्य-संघर्ष और क्रान्ति के लिए आह्वान; एवं ५. राष्ट्रप्रेम तथा राष्ट्र वन्दन।

इस युग के प्रसिद्ध कवि मैथिलीशरण गुप्त, प्रसाद, पन्त और निराला ये चारों भारतीय संस्कृति के अनन्य उपासक हैं। परन्तु वे अतीत के अन्ध अनुयायी नहीं थे। वर्तमान से असंतुष्ट होकर ही वे अतीत में झांकते थे। असल में तो एक महाप्रश्न उस समय भारतीय मनीषियों के मन के द्वार खटखटा रहा था। वह प्रश्न था कि क्या पाश्चात्य संस्कृति की तुलना में भारतीय संस्कृति हेय है। अतीत में झांकने से उन्हें लगा कि निराशा या आत्महीनता की आवश्यकता नहीं है। उन्होंने इतिहास में से वीरता स्वाभिमान और सांस्कृतिक उच्चता के प्रसंगों का उल्लेख करके देशवासियों को अपने को हीन न समझने की प्रेरणा दी। इस अतीत दर्शन के मूल में उनका राष्ट्र प्रेम ही था। सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' की सहस्राब्दी कविता में 'महावीर विक्रमादित्य का अभिनन्दन' तथा 'खण्डहर के प्रति' कविता में कवि भारत के अतीत वैभव की, जो आज खण्डहर बन गया है, दर्द भरी दास्तान सुनाता है।

इन कविताओं में उन भारतीयों पर चोट की गई है जो अपनी संस्कृति को भूलकर विदेशी संस्कृति का गुणगान करते हैं। निराला की 'राम की शक्ति पूजा' स्वतंत्रता-संग्राम के प्रत्येक सेनानी की शक्तिपूजा का प्रतीक बन गई। राम के शरीर में शक्ति का प्रवेश राष्ट्र की आत्मा में शक्ति प्रवेश के समान है। 'तुलसीदास' नामक काव्य के प्रारम्भ में निराला ने जो सांस्कृतिक पतन का चित्र खींचा है वह केवल तुलसी के युग के लिए ही सत्य नहीं था, वर्तमान युग के लिए भी सत्य है। भारतीय आकाश का 'प्रभापूर्ण सांस्कृतिक सूर्य' अस्त हो रहा है और उसके स्थान पर विधर्मी और विदेशी संस्कृति का धूमकेतु टिमटिमाने लगा है। इस सांस्कृतिक पतन को देख कर कवि संकल्प करता है—

करना होगा यह तिमिर पार
देखना होगा सत्य का मिहिर-द्वार।

गोपालशरण सिंह ने अतीत के गान के साथ भारत की विशालता का भी गीत गाया है। 'सुना रहा भैरवी' शीर्षक कविता में कविवर सोहन लाल द्विवेदी ने अतीत का स्मरण कर देश के सोने वालों को जगाने के लिए आलाप लिया।

इसी प्रकार "रेणुका" में दिनकर गौरवपूर्ण अतीत की सजीव व्यंजना करने वाले मूक खण्डहरों और महापुरुषों का स्मरण करते हुए "कितनी बार समुद्रगुप्त ने धोयी है तुझ में तलवार" जैसी पंक्तियां लिखी हैं।

हिमालय से कवि का सम्बोधन राष्ट्रिय भावना के उद्रेक का स्मरणीय अंश है। इस प्रकार कवियों ने अतीत के गौरवगान से देशवासियों की पराजय भावना, निष्क्रियता और जड़ता से निकाल कर उनमें आत्म-गौरव, आस्था और विश्वास का संचार किया। सत्यनारायण 'कविरत्न' ने भ्रमर गीत की मध्य-कालीन काव्य परंपरा को अपने 'भ्रमरदूत' द्वारा नया मोड़ दिया। उन्होंने कृष्ण को राष्ट्र नायक के रूप में चित्रित किया और माता यशोदा को भारत माता के रूप में। देश की दुर्दशा का चित्रण करते हुए यशोदा माता योगिराज कृष्ण के पास संदेश भेजती है कि वे शीघ्र आकर भारत को बचावें। महाभारत की घटनाओं से तुलना करते हुए माखनलाल चतुर्वेदी ने भारत माता रूपी द्रौपदी का चीर हरण करने वाले दुःशासन के रूप में अंग्रेजों का और उसकी रक्षा करने वाले कृष्ण के रूप मे गांधी का चित्रण किया हैं। मैथिलीशरण गुप्त ने रावण की कैद में पड़ी सीता को भारत की स्वातंत्र्य-लक्ष्मी का प्रतिरूप माना।

सांस्कृतिक नवजागरण :—हिन्दी के कवियों ने अतीत का गौरव प्रकट कर जहाँ नई सांस्कृतिक चेतना जगाई वहाँ देश की वर्तमान सामाजिक, धार्मिक बुराइयों और आर्थिक विषमताओं का चित्रण करके सांस्कृतिक नवजागरण का प्रयास किया। भारतेन्दु काल में जो नए ढंग की कविता प्रणीत हुई उसका मुख्य स्वर सामाजिक सुधार और धार्मिक उद्बोधन ही था। छूत-छात, फैशन, मद्य-पान, झाड़-फूंक, भूत-प्रेत, अनमेल-विवाह तथा धार्मिक पाखंड एवं घूंस, सिफारिश आदि की व्यंग्यपूर्ण शैली में खूब कड़ी आलोचना की गई।

द्विवेदी कालीन अयोध्या सिंह उपाध्याय, नाथूराम शर्मा 'शंकर', बद्रीनाथ भट्ट, गयाप्रसाद शुक्ल सनेही आदि अनेक कवियों ने समाज सुधार के लिए अपनी

लेखनी से तीव्र प्रहार करने में भी संकोच नहीं किया। गुप्त जी ने भारत-भारती में अनमेल विवाह, वर-कन्या-विक्रय, व्यभिचार और धार्मिक पाखंड आदि की खूब खबर ली है। वर्ग भेद और आर्थिक विषमता की ओर भी इस युग के कवियों ने अपनी आवाज बुलन्द करने में संकोच नहीं किया। बालकृष्ण शर्मा नवीन ने विदेशी शासन को नष्ट करने की भावना से सत्याग्रह करके जेल में जाने वाले बंदी के जीवन का 'कुंकुम' में मार्मिक चित्र खींचा।

'सिंहासन भूलुंठित' होंगे शीर्षक कविता में पद्मसिंह शर्मा ने विदेशी शासकों को विलास का पुतला तक कह कर संबोधित किया।

दिनकर की कविता में विदेशी शासन को हटा कर उसके स्थान पर स्वदेशी शासन स्थापित करने का केवल संकल्प ही नहीं दिखाई देता, बल्कि क्रांति की ज्वाला भी दिखाई देती है। उन्होंने क्रूर शासकों को 'हुंकार' में सावधानी की चेतावनी दी है।

भगवती चरण वर्मा ने युग के दमन और शोषण का भैंसागाड़ी को प्रतीक मानकर जीवन के वैषम्य का चित्रण किया है। जिन नगरों में सेठ साहूकार लोग सोने और चाँदी में खेलते हैं उन लक्ष्मी के परम भक्तों का वर्णन करते हुए वे बताते हैं कि लक्ष्मी के भक्त मनुष्य का उष्ण रक्त पीते हैं।

साम्प्रदायिकता का विरोध और राष्ट्रिय एकता :—हमारी राष्ट्रियता के लिए साम्प्रदायिकता सबसे बड़ा खतरा है। स्वतंत्रता से पहले इसी सांप्रदायिकता के कारण देश के विभाजन के बीज बोए गए और अंततः पाकिस्तान बन के रहा। स्वतंत्रता के बाद भी इस राक्षसी ने हमारा पीछा नहीं छोड़ा और आज भी धर्म जाति, भाषा और प्रांत के नाम पर आए दिन उपद्रव होते रहते हैं। इसी सांप्रदायिकता ने देश की एकता को खतरे में डाल दिया है। सब धर्मों के प्रति समानता का भाव हमारे राष्ट्रिय आन्दोलन का मुख्य उपादान रहा है। राष्ट्रकवि श्री मैथिलीशरण गुप्त ने सभी धर्मों के प्रति अपनी आस्था और श्रद्धा व्यक्त करके अपनी रचनाओं द्वारा पारस्परिक प्रेम और एकता का भाव जगाने का प्रयत्न किया है। उन्होंने अपनी कृति 'काबा और कर्बला' में इस्लाम के प्रति ,अर्जन और विसर्जन' में ईसाइयत के प्रति और 'गुरुकुल' में सिखधर्म के प्रति अपनी श्रद्धांजलि

के पुष्प चढ़ाए हैं। इस दृष्टि से गुप्त जी को राष्ट्रिय सांस्कृतिक धारा का सर्वाधिक प्रतिनिधि कवि कहा जा सकता है। राष्ट्रिय आन्दोलन के जितने मुख्य उपादान थे उन सबका जैसा कविजनोचित वर्णन गुप्त जी की रचनाओं में मिलता है वैसा अन्यत्र कदाचित् दुर्लभ है।

स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए संघर्ष और क्रांति का आह्वान :—स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए त्याग और आत्म-बलिदान की अजस्र प्रेरणा हिंदी के राष्ट्रवादी कवियों ने सदा दी है। एक ओर गांधी जी के प्रभाव से सत्याग्रह और अहिंसात्मक संघर्ष के स्वर प्रकट हुए, तो दूसरी ओर प्रगतिवादी या मार्क्सवादी प्रभाव के अन्तर्गत हिंसात्मक क्रांति का भी बिगुल बजा। दिनकर, माखनलाल चतुर्वेदी और बालकृष्ण शर्मा नवीन आदि कवि मूलतः गांधीवादी विचारधारा के पोषक होते हुए भी क्रांति और विप्लव का राग गाने को विवश हुए। 'पुष्प की अभिलाषा' नामक कविता में माखनलाल चतुर्वेदी ने आत्मोत्सर्ग की अनुपम प्रेरणा दी है। चतुर्वेदी जी ने 'जवानी' जैसी कविताओं में राष्ट्र की स्वतंत्रता के लिए विप्लव का भी आह्वान किया है।

रक्त है ? या है नसों में क्षुद्र पानी
जाँच कर तू शीश दे देकर जवानी।

मैथिलीशरण गुप्त ने देश को गौरवशाली बनाने की प्रेरणा देते हुए लिखा—

जो हम कभी फूले फले थे रामराज्य वसंत में
हा ! देखनी हमको पड़ी औरंगजेबी अन्त में
रहते यवन थे रक्तरंजित तीक्ष्ण असि ताने खड़े
चोटी नहीं तो हाय ! हमको शीश कटवाने पड़े।

x x x x

हतभाग्य हिन्दू जाति ! तेरा पूर्व दर्शन है कहाँ ?
वह शील शुद्धाचार, वैभव देख अब क्या है यहाँ ?
हम हिन्दुओं के सामने आदर्श जैसे प्राप्त हैं
संसार में किस जाति को, किस ठौर वैसे प्राप्त हैं ?

कविवर सुमित्रानन्दन पन्त का मन मधुर और सुन्दर कल्पनाओं से मंडित प्रकृति चित्रों के सर्जन में अधिक रमा, पर ग्राम्या, और 'युगवाणी' में वे भी राष्ट्रिय चेतना के वाहक बन जाते हैं। 'परिवर्तन' शीर्षक कविता में उनकी यह भावना द्रष्टव्य है

इस प्रकार की कविताओं ने जनता के मन की ऐसी भूमिका तैयार कर दी जिसके कारण सन् ४२ में 'अंग्रेजो भारत छोड़ो' और 'करो या मरो' के आह्वान के साथ आजादी का उग्रतम आन्दोलन छिड़ा। आजाद हिन्द सेना के निर्माण में और सन् ४६ के नौ सैनिकों के विद्रोह में भी वही भावना व्याप्त थी जिसने अंत में १५ अगस्त सन् १९४७ को अंग्रेजों को भारत छोड़ने के लिए विवश कर दिया।



सम्पादक के नाम

श्रेय–श्रेयस्

चर्चा यों चली कि हिन्दी पत्रिकाओं में प्रबुद्ध लोगों के लिये भारतीय संस्कृति की गरिमा के अनुकूल एवं भविष्य में यह पावनपूत धरोहर विषाक्त इतर धाराओं के अवचेतन प्रहार से मुक्त रह सके ऐसी सामग्री का प्रायः अभाव है। मेरे परम मित्र श्रीयुत् भगवद्दत्तजी शिशु ने बिना कोई अपनी समीक्षा के 'श्रेय' के चार अंक मुझे थमा दिये। मैं भूखा था, अतः तुरन्त इन्हें पढ़ गया। मुझे विस्मय हुआ कि आज के इस तामसी निखार व मात्र विज्ञापन के युग में संपादकों ने यह हिम्मत कैसे की? यही नहीं भारतीय साहित्यकार संघ के तत्वावधान में यह अभी तक निरन्तर प्रकाशित भी हो रही है। सामग्री संस्कृति-शोधन, सर्वजन-हिताय, सुसाहित्य के मूलभूत उद्देश्यों की रक्षक, प्रेरक, सुसज्जित, ललाम-अभिराम पायी। विषय निर्देश के बारे में मेरे जैसे अल्पज्ञ. वेद ब्रह्म, तंत्र, स्वातंत्र्य यज्ञ के होताओं की स्मरणांजलि, साहित्य के विविध रूप पाश्चात्य व पूर्वात्य की मीमांसा आदि के सुविवेचन के बारे में क्या कहूं? सर्वांगीण हित की ओर अग्रसर होती हुई इस परंपरा को संपादकगण निरन्तर कायम रख सकें ऐसी मात्र कामना-अभिलाषा ही की जा सकती है, वर्णित विविधता का बखान अधिकारी विद्वान् ही कर सकते हैं, मैं तो साधारण रूप में यही कह कर संतोष ग्रहण करता हूं:—

जालिम में थी एक और बात इसके सिवा भी।

महावीर प्रसाद हलवाई

लेखक एवं विक्रय सलाहकार
जे० सी० मिल्स-ग्वालियर

प्रिय श्री वास्तव जी,

सप्रेम हरिस्मरण।

'श्रेय' के अंक प्राप्त हो गये थे। वह यथानाम तथा गुण: की उक्ति को चरितार्थ करने वाला पत्र है। छपाई, सफाई और सामग्री सभी दृष्टियों से पठनीय एवं संग्रहणीय है। मैं उसकी सफलता चाहता हूँ।

आपका

श्री कृष्ण-जन्म स्थान-सेवासंघ, मथुरा (उ०प्र०) (देवधर शर्मा)

श्रेय की प्रतियां मिलीं। पत्रिका पढ़कर प्रसन्नता हुई। इसकी विषय-सामग्री संपादन, छपाई साजसज्जा सभी स्तरीय लगे। मेरी समझ से आप इसे साहित्य की तकनीकी में अधिक सीमित न करें। शिक्षित समाज इस समय विज्ञान और व्यवसाय में आपाद मस्तक मग्न है। उसकी रसिकता सूख रही है। अत: इस ओर भी ध्यान दें। पत्रिका का नाम भी अच्छा लगा। मैं आपको और आपके द्वारा भारतीय साहित्यकार संघ को अपनी शुभकामनायें भेजता हूँ। भगवान् करे, यह पत्रिका विकास का दीर्घजीवन जीये।

संयोजक-आगरा विश्वविद्यालय-हिन्दी-शोध-विभाग डा० मनोहरलाल गौड़

'श्रेय' की सामग्री में सम्पादक-द्वय बड़ी रुचि और परिश्रम के साथ प्रयत्नशील हैं। विषय-वैविध्य, भावप्रस्तुतिकरण, संपादन और दिशा निर्देशन की दृष्टि से पत्रिका सराहनीय है।

संरक्षक रवीन्द्र मिश्र
भारतीय साहित्य संस्थान, नई दिल्ली।

श्रेय पत्रिका के अंक देखे। विषय-चयन की दृष्टि से पत्रिका सर्वोत्तम लगी। आजकल निकलने वाली अनेक पत्र पत्रिकाओं की अपेक्षा श्रेय के लेख, भाषा' भाव, संस्कृति की दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण लगे।

प्रबुद्ध साहित्यकारों एवं साहित्य सेवियों के लिए पत्रिका पठनीय एवं मननीय है। साहित्यिक जगत् में श्रेय का स्थान एवं मान उत्तरोत्तर वृद्धिगत हो, यही मेरी शुभ कामना है।

संपादक, शलेन्द्र कुमार पाठक
ताण्डव।

'ध्रुव-स्वामिनी' की समीक्षा

ले० डा० पुरुषोत्तम दास अग्रवाल

'ध्रुवस्वामिनी' आधुनिक हिन्दी के विख्यात कलाकार स्वर्गीय जयशङ्कर प्रसाद का अन्तिम एवं प्रौढ़ लघुनाटक है। अनभिनेयता, स्वगत-अधिकता, अतिभावुकता, अतिदार्शनिकता, अतिगीतिमयता इत्यादि के जो साधार अथवा निराधार दोष प्रसाद के आरम्भिक नाटकों पर लगाए गए थे वे 'ध्रुवस्वामिनी' पर नहीं के बराबर लगाए जा सकते हैं। प्रसाद की नाट्यकृतियों में 'ध्रुवस्वामिनी' सबसे अधिक कसी हुई कृति है। इन कारणों से, अभिनय और अध्ययन के उभय क्षेत्रों में यह कृति विशेष लोकप्रिय है। डाक्टर पुरुषोत्तमदास अग्रवाल ने 'ध्रुवस्वामिनी का शास्त्रीय विवेचन' में इस कृति की विशद समीक्षा की है। कृति की ऐतिहासिकता, पुनर्लग्न-समस्या, चरित्रचित्रण, भाषा-शैली, शब्दसौष्ठव, पाश्चात्य नाट्यतत्त्वों, नायक इत्यादि की दृष्टि से उन्होंने गंभीर, व्यापक एवं प्रभावशाली विवेचन किया है। यह पुस्तक अध्यापकों, एम० ए० में प्रसाद का विशेष-कवि के रूप में अध्ययन करने वाले छात्रों, बी० ए० में कृति का अध्ययन करने वाले छात्रों, तथा सामान्य पाठकों, सबके लिए उपयोगी है।

प्रसाद के नाटकों के शास्त्रीय अध्ययन की दिशा में सर्वप्रथम प्रयास डाक्टर जगन्नाथप्रसाद शर्मा ने किया था। वे वाराणसी के थे, प्रसाद के सम्पर्क में रहे थे, साहित्य के सजग अध्येता और अध्यापक थे; अतएव, उनका 'प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन' एक अतीव उपयोगी प्रयास सिद्ध हुआ। यद्यपि प्रसाद के नाटकों पर अनेक ग्रन्थ रचे जा चुके हैं तथापि उक्त प्रयास का महत्त्व लगभग ज्यों-का-त्यों बना हुआ है। स्वर्गीय पण्डित नन्ददुलारे वाजपेयी एवं एकाङ्कीकार जगदीशचन्द्र माथुर इत्यादि ने प्रसाद की स्वच्छन्द प्रतिभा को शास्त्रीयता में

आबद्ध करने के प्रयास के औचित्य पर सन्देह प्रकट किया है, और उनकी स्थापना में सार भी है, तथापि, यह स्पष्ट है कि प्रसाद के नाटकों में स्वच्छन्दता और शास्त्रीयता का समानुपात प्राप्त होता है। प्रसाद के नाटकों में प्राच्य-पाश्चात्य नाट्य-शैलियों के समन्वय के सदृश स्वच्छन्दता-शास्त्रीयता का समन्वय भी हुआ है, इसमें सन्देह नहीं। अतएव, उनके नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन-विवेचन अनुचित नहीं माना जा सकता। इस दृष्टि से भी डा० अग्रवाल के प्रयास का महत्त्व स्पष्ट है। किन्तु यदि वे स्वच्छन्दतावाद की दृष्टि से कुछ अधिक विवेचन करते तो मेरी दृष्टि से प्रयास अधिक पूर्ण हो जाता।

सम्प्रति पाठ्यक्रम में प्रस्तावित कलाकृतियों पर जो आलोचना-ग्रंथ बहुत बड़ी संख्या में निकल रहे हैं उनकी उपादेयता सम्भव है किन्तु उनसे अध्ययन-अनुशीलन को कोई स्फुरण नहीं प्राप्त हो पा रहा। डा० अग्रवाल का प्रस्तुत प्रयास इस दृष्टि से भी प्रशंसनीय है कि उसमें कलाकृति का विवेचन उपादेयता एवं ऊहापोह दोनों के साथ न्याय करता है। डा० अग्रवाल का ग्रंथ उपयोगी होने के साथ ही प्रौढ़ भी है, और, ऐसा लगता है, त्वरा में नहीं लिखा गया।

इस ग्रंथ में 'ध्रुवस्वामिनी' से सम्बद्ध प्रायः सभी महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर विस्तृत विचार किया गया है। आशा है डा० अग्रवाल प्रसाद के अन्य नाटकों, विशेषतः 'स्कन्दगुप्त', 'चन्द्रगुप्त' और 'अजातशत्रु' पर भी ऐसे ही गंभीर ग्रंथ लिखेंगे।

—रामप्रसाद मिश्र



स्वामित्व और प्रकाशन सम्बन्धी घोषणा

१. प्रकाशन स्थान	५१/१ न्यू मार्केट, करोल बाग, नई दिल्ली-५
२. अवधि	त्रैमासिक
३. मुद्रक तथा प्रकाशन	मोहनलाल श्रीवास्तव
राष्ट्रियता	भारतीय
पता	५१/१ न्यू मार्केट, करोल बाग, नई दिल्ली-५
४. सम्पादक	डा० रामदत्त भारद्वाज (११/६ शक्ति नगर, दिल्ली) मोहनलाल श्री वास्तव (क्रम ३ के अनुसार)
५. स्वामित्व	भारतीय साहित्यकार संघ पंजीकृत-संख्या, एस० २५६३

मैं मोहनलाल श्रीवास्तव घोषित करता हूँ कि उपर्युक्त विवरण मेरी अधिकतम जानकारी और विश्वास के अनुसार है।

मोहनलाल श्रीवास्तव

भारत के समाचार पत्र-रजिस्ट्रार द्वारा — प०सं० (रजि० न०) १९७७२/७०

विज्ञापन दर

अन्तिम पृष्ठ	सम्पूर्ण	५०० रु०
,, ,,	अर्धांश	२५० रु०
भीतरी पृष्ठ	सम्पूर्ण	४०० रु०
,, ,,	अर्धांश	२०० रु०
,, ,,	चतुर्थांश	१०० रु०

विशेष स्थिति में पत्रिका की प्रबन्ध समिति को विज्ञापन की दरों में आवश्यक परिवर्तन करने का अधिकार है। यह पत्रिका भारत के सुशिक्षित परिवारों, शिक्षा संस्थानों और प्रबुद्ध जीवियों की पत्रिका है। अतएव इसमें प्रकाशित विज्ञापन का विशेष महत्त्व बढ़ जाता है। आशा है कि विज्ञापन दाता इसमें विज्ञापन देकर अवश्य लाभ उठाएंगे

राजपाल शास्त्री-लक्ष्मीकान्त 'मुक्त'
प्रबन्धक

भारतीय साहित्यकार संघ की ओर से मोहनलाल श्री वास्तव द्वारा खजुराहो प्रिंटिंग प्रेस, ४७/४७३५, हरध्यान सिंह रोड़, करौल बाग, नई दिल्ली-५ में मुद्रित तथा ५१/१ न्यू मार्केट, करौल बाग, नई दिल्ली-५ से प्रकाशित।